राजस्थान के ज्योति-स्तम्भ

लेखक—
हरिभाऊ उपाध्याय
बाबूराव जोशी

प्रकाशक-
हितैषी-पुस्तक-भण्डार
उदयपुर

प्रथम संस्करण] १९४९ ई० [मू०

विषय सूची

प्राक्कथन

प्रकाशक महोदय ने जब हमसे विशेष आग्रहपूर्वक यह अनुरोध किया कि राजस्थान के प्रसिद्ध महापुरुषों के जीवन-चरित्रों और उसके इतिहास को बनाने वाली जातियों व स्थानों पर प्रकाश डालने वाली एक पुस्तक लिखें, तो राजस्थानी के नाते हमने इसे स्वीकार कर लिया।

आज राजस्थान पिछड़ा हुआ अवश्य है, लेकिन उसका अतीत बड़ा ही उज्ज्वल था, इतना उज्ज्वल कि उससे भारतवर्ष ही नहीं, दुनियाँ को प्रेरणा मिली है और मिलती रहेगी।

राजस्थान का इतिहास आत्मोत्सर्ग, शौर्य और उदात्त परंपराओं का इतिहास है। उसकी एक एक पंक्ति में त्याग और बलिदान समाया हुआ है। इस अथाह रत्नाकर में से हमने कुछ ही रत्न चुने हैं। इन रत्नों में जहाँ राणा कुम्भा, राणा सांगा, राणा प्रताप, पृथ्वीराज तथा दुर्गादास जैसे स्वातन्त्र्य-प्रेमी, शूरवीर और आत्मत्यागी महापुरुष हैं वहाँ भक्ति की साकार प्रतिमा मीराँ, संत दादूदयाल, इतिहासकार ओझाजी और आदर्श देश-भक्त जमनालालजी बजाज के जीवन-चरित्र भी हैं। इसके अतिरिक्त राजपूत और भील जाति का इतिहास, रीतिरिवाज और परंपरा तथा चितौड़ के प्रसिद्ध किले पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि इनके बिना राजस्थान के उस काल का चित्र अधूरा ही रहता।

इस पुस्तक को लिखने में भाषा की सरलता और रोचकता का विशेष ध्यान रक्खा गया है, ताकि ये विद्यार्थियों और नवयुवक-युवतियों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हो सके।

राजस्थान का इतिहास एक तरह से मुसलमानों और राजपूतों की लड़ाइयों से भरा पड़ा है, लेकिन उसे हिन्दुओं और मुसलमानों की लड़ाई का इतिहास नहीं कह सकते। राजपूतों की लड़ाई स्वतंत्रता की लड़ाई थी। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह था—चुनौती थी। यदि उनके स्थान पर अन्य कोई जाति होती और वह मुसलमानों की ही तरह राजपूतों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने का प्रयत्न करती तो वे उसका भी उसी प्रकार सामना करते। कुछ इतिहासकारों का तो यह भी कथन है कि महाराणा प्रताप की सेना में मुसलमान सरदार भी थे। इससे इस कथन की पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं परंतु यह बात सत्य है कि उस समय भी हिन्दू-मुसलमानों में आज की तरह ओछी कटुता व विद्वेष नहीं था। एक ओर धर्मोन्माद था तो दूसरी ओर स्वातन्त्र्य का या अपनी आन शान की रक्षा का भाव था। अतः इस युग के विद्यार्थियों को तो उस काल की घटनाओं से वही शिक्षा लेनी चाहिये जो उन्हें आज के या कल के भारत को उज्ज्वल बनाने में काम आये अर्थात् राजपूतों का अपूर्व त्याग और बलिदान तथा भीलों की स्वामीभक्ति या देशभक्ति। त्याग, बलिदान और देशभक्ति की नींव पर ही सबल राष्ट्रों का निर्माण होता है। जो स्वयँ ऊँचे उठकर दूसरों को भी ऊँचा उठाने की प्रेरणा करते रहते हैं, वे इस प्रकार आत्मकल्याण के साथ विश्वकल्याण का लाभ भी अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।

सदियों की दासता के बाद स्वतन्त्रता के वातावरण में साँस लेने वाले हमारे राष्ट्र को इन गुणों की बहुत जरूरत है। यदि इस

पुस्तक से पाठकों को इसी प्रकार की प्रेरणा मिली तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे, और उन्होंने इस पुस्तक को प्रेम से अपनाया तो हम और भी स्फूर्तिदायी सामग्री पाठकों की भेंट करेंगे।

महिला शिक्षा सदन
गांधी आश्रम
हटूण्डी (अजमेर)

हरिभाऊ उपाध्याय
३०-३-४९

भील

इतिहासकारों का कथन है कि आर्यों के आगमन के पूर्व हिन्दुस्तान में कुछ आदिम जातियां थीं। जैसे-जैसे आर्य आगे बढ़ते गये ये जातियां पीछे हटती गईं। धीरे-धीरे आर्य सारे उत्तरी भारत में फैल गये और ये जंगली जातियां दक्षिण में चली गईं। आर्यों ने इन जातियों में भी अपनी सभ्यता का प्रसार किया लेकिन फिर भी इन जातियों को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सका। आज भी वे आदिमवासी जंगलों में रहते हैं। भील कोल मीणा, गोंड, संथाल उन्हीं आदिम जातियों के वंशज हैं। यहाँ हमें केवल भीलों के सम्बन्ध में ही विचार करना है। 'भील' नाम के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'भील' शब्द संस्कृत की 'भिल' या 'विल' धातु से निकला है। भील लोग अच्छे धनुर्धर होते हैं। धनुष ही उनका मुख्य शस्त्र होता है अतः इसी कारण शायद उनको भील कहा जाने लगा है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि 'भील' शब्द द्रविड़ भाषा के किसी शब्द से निकला है।

भीलों के सम्बन्ध में कुछ बातें इधर-उधर हमारे प्राचीन ग्रंथों में बिखरी हुई मिलती हैं। भीलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई कहानियाँ प्रचलित हैं। भागवत में लिखा है कि भीलों की उत्पत्ति अंग के पुत्र राजा बेन से हुई। बेन बड़ा कठोर शासक था।

उसने लोगों से कहा कि वे उसकी पूजा करें और यज्ञ आदि अन्य धार्मिक क्रियाएं बन्द कर दें। उसने साधु-सन्तों और ऋषि-महर्षियों को भी सताया। उन्होंने अंत में परेशान होकर उसे शाप दे दिया जिससे वह मर गया। बेन का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद देश में अशांति फैलने लगी। ऋषियों ने शांति स्थापना के लिए राजा के शव से निषाद नामक वामन को उत्पन्न किया। उसका रंग अत्यंत काला, नाक चपटी, जबड़े बड़े और नेत्र लाल थे। उसके वंशज जंगलों में रहते थे। अग्निपुराण में भी एक स्थान पर लिखा है कि बेन से निषाद की उत्पत्ति हुई थी। एक कथा इस प्रकार भी है कि एक बार महादेवजी बीमार थे और जंगल में विश्राम कर रहे थे। सहसा एक सुन्दरी उनके सामने आई; वे उसके प्रेम-पाश में फंस गये। उससे उनकी बहुत-सी सन्तान हुई। इनमें एक पुत्र बचपन से ही बड़ा कुरूप और दुष्ट था। एक बार उसने अपने पिता के वृष को मार डाला। वृष उनको बहुत प्रिय था अतः उस पर वे बिगड़े और उसे निर्वासित कर दिया। उसी समय से उसके वंशज भील या निषाद कहे जाने लगे।

रामायण और महाभारत में भी भीलों का उल्लेख है। रामचन्द्रजी ने जंगल में रहने वाली भीलनी के बेर बड़े प्रेम से खाये थे और उसका उद्धार किया था। 'भिलनी के बेर, सुदामा के तान्दुल' हर एक भक्त की जबान पर रहता है। महाभारत में तो भगवान श्रीकृष्ण का अवसान ही एक भील के तीर से हुआ। इसी प्रकार एकलव्य भील का भी वर्णन महाभारत में है। एकलव्य ने द्रोणाचार्यजी को अपना गुरु बनाया और उनकी मिट्टी की प्रतिमा बना कर धनुष-विद्या सीखी। जब द्रोणाचार्य ने उसे देखा तो उसकी गुरू निष्ठा से बड़े प्रसन्न हुए। गुरू दक्षिणा में द्रोणाचार्यजी ने उसका अँगूठा मांगा और उसने निसंकोच भाव से अपना अँगूठा

काट कर दे दिया। इस प्रकार इन कथाओं से सिद्ध होता है कि भील भारतवर्ष की आदिम जातियों में से हैं। वे जंगलों में रहते हैं और कुरूप होते हैं। कर्नल टॉड का भी यही कहना है कि वे भारतवर्ष के आदिम निवासी हैं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि वे बाहर से आये हैं लेकिन वह अधिक युक्तियुक्त नहीं है।

भील बहुत दिनों से राजपूताना और मध्यभारत के जंगलों में रह रहे हैं और आज भी ये यहीं रह रहे हैं। राजपूताने में उसका दक्षिणी भाग इनका मुख्य निवास स्थान था। मेवाड़ के इतिहास में भीलों की वीरता का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। उन्होंने अनेकों बार गुहिल वंशीय राजाओं की मदद की है। यह भी कहा जाता है कि डूँगरपुर, बासवाड़ा, देवलिया आदि पहले भीलों के ही ग्राम थे। किन्हीं प्राचीन भील शासकों के नाम पर ही इनके ये नाम रखे गये थे। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जिसे आजकल कोटा शहर कहा जाता है वह कोटिया जाति के भीलों की बस्ती थी और इसी जाति के नाम पर उसका नाम 'कोटा' पड़ गया। राजपूत राजा पहले से ही इस जाति का आदर करते थे और यह जाति उनकी सहायता में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती थी। पहिले उदयपुर, डूँगरपुर, बांसवाड़ा आदि राज्यों में जब राज्याभिषेक होता था तो एक भील अपने अँगूठे के रक्त से राजा को तिलक करता था। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के समय तक यह प्रथा प्रचलित थी।

भीलों की कई जातियां उपजातियाँ हैं। राजस्थान में ही भिन्न-भिन्न स्थानों में उनकी अनेक उपजातियां हैं। मेवाड़, डूँगरपुर बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ और जोधपुर में तो विशेष रूप से हैं ही; लेकिन अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि अन्य देशी राज्यों में भी भील रहते हैं। कुछ भील अपने को 'उजले' कहते हैं; वे सफेद रंग

की चीजें नहीं खाते और अक्सर सफेद भेड़ की सौगन्ध खाते हैं। लेकिन ये 'उजले' भील ज्यादा नहीं हैं। इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। दूसरे भील अपने को राजपूत वंश का मानते हैं और कोई अपने को परमार, कोई सोलंकी, कोई चौहान, कोई गहलोत, कोई राठौड़ और कोई भाटी कहते हैं। मेवाड़ में खेरवाड़ा जिले तथा जय-समुद्र के आस-पास 'कालिये' भील रहते हैं। कालिये और उजले भीलों की शरीर रचना तथा संस्कृति में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता।

वैसे प्राचीन काल से ही भील जंगलों में रहते आये हैं लेकिन अब कुछ वर्षों से कुछ भील ग्रामों में भी रहने लगे हैं। ग्रामों में ये लोग छोटी-छोटी नौकरियां करते हैं और छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे करते हैं। कुछ लोग पूरी तरह खेती ही करते हैं। इन लोगों ने समतल भूमि में रह कर खेती को ही अपना लिया है। और कुछ लोग अब भी जंगलों में रहते हैं। ये न खेती करते हैं न उद्योग-धन्धे। लूट-मार, शिकार, और पशुपालन ही इनके जीवन निर्वाह के मुख्य साधन हैं। बहुत से भील तो अब भी यह समझते हैं कि चोरी और लूट-मार ही उनका धन्धा है और इसी काम के लिए ईश्वर ने उन्हें पैदा किया है। जब कभी अकाल पड़ता है तब तो इनकी लूट-मार चरम सीमा पर पहुँच जाती है। आस-पास के लोग इनसे तंग आ जाते हैं।

भील जंगली हैं और चोरी तथा लूट-मार करते हैं इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें कोई सद्‌गुण नहीं। यह तो उनके संस्कारों का परिणाम है। उनमें कई अच्छे गुण हैं जो शहरों के संस्कृत कहे जाने वाले बहुत से लोगों में भी नहीं होते। वे सच्चे, अतिथि-सत्कार प्रिय, स्वामिभक्त, संकोचशील, और युद्धप्रिय होते हैं। कहा जाता है कि शहरी लोगों के सम्पर्क में आये हुए भील तो प्रायः झूठ बोलते हैं लेकिन सुदूर जंगलों में रहने वाले भील सत्य

ही बोलते हैं। वे अपने शब्दों पर दृढ़ रहते हैं। जब वे एक बार किसी को वचन दे देते हैं तो उसे अन्त तक निभाते हैं। इसके लिए यदि उन्हें प्राण भी देने पड़ें तो विमुख नहीं होते। ये तो बड़ी बातें हुईं, लेकिन साधारण व्यवहार में भी जब किसी भील को कुछ पैसे देकर कोई अपने साथ रास्ता दिखाने या इसी प्रकार के अन्य काम में लगा लेता है तो वह अपने मालिक की पूरी तरह रक्षा करता है। भीलों की संगठन शक्ति भी जबरदस्त है। जहां किसी एक भील ने चीत्कार की कि आस-पास के सारे भील दौड़ आते हैं। जंगलों में भीलों ने महाराणा प्रताप की जिस प्रकार रक्षा की थी और जिस प्रकार उनके लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी थी वह किसी से छिपा नहीं है। कर्नल टॉड ने भी अपने इतिहास में भीलों की स्वामिभक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। मराठों के समय में जब मराठों ने उदयपुर को घेर लिया था तब ये लोग ही तालाब में से आकर नागरिकों को भोजन सामग्री पहुँचाते थे मेवाड़ के राजाओं की तो इन्होंने बहुत पहले से ही प्रशंसनीय सेवा की है। यही कारण है कि उदयपुर के राजचिह्न में एक ओर भील का भी चित्र है।

भीलों की कई उपजातियां हैं। कालिये भील बहुत कम खेती करते हैं। वे शिकार करके या मछली मार कर ही अपना निर्वाह करते हैं। जय समुद्र के आस-पास इस प्रकार के कालिये भील रहते हैं। लकड़ी के चार छः लट्ठों को जोड़ कर ये लोग एक 'भेला' बना लेते हैं और उस पर बैठ कर भालों से घड़ियालों की शिकार करते हैं। दूसरे हैं पालिये भील—ये लोग जंगलों में ही रहते हैं। इनकी बस्ती सघन नहीं होती। पहाड़ियों पर इनकी अलग-अलग झोंपड़ियां बनी रहती हैं। झोंपड़ियों के आस-पास इनकी खेती होती है। अपनी झोपड़ी के आस-पास की जमीन के ये ही मालिक होते हैं। इस प्रकार की कई झोपड़ियां मिल कर एक 'फला' कहलाता

हैं। हर एक फले के आस-पास कांटों की बाढ़ रहती है। ऐसे कई फले मिल कर एक गांव बनता है जिसे ये लोग 'पाल' कहते हैं। इन पालों में रहनेवाले पालिये कहलाते हैं। प्रत्येक फले में एक या दो मुखिया रहते हैं और सारे पाल का भी एक मुखिया होता है जिसे 'गमेती' कहते हैं। इनकी झोंपड़ियाँ दूर-दूर होने के कारण बड़ी स्वास्थ्यप्रद होती हैं। पास की पहाड़ी पर ये लोग प्रायः जंगल बढ़ने देते हैं ताकि बाहरी आक्रमण के समय उसमें छिप कर अपनी रक्षा कर सकें। इनकी झोपड़ी छोटी होती है लेकिन उसमें अनाज रखने, पशु बांधने आदि की काफी सुविधा रहती है। झोंपड़ियों की दीवारें चिकनी मिट्टी और पत्थर की अथवा बांसों की होती हैं। ये ऊपर से लिपी रहती हैं। छप्पर कहीं घास-फूस का होता है कहीं खपरेल का। झोपड़ियां अन्दर से काफी साफ-सुथरी होती हैं। इनके सामान में मट्टी के बरतन, खटिया, चक्की आदि ही प्रमुख होते हैं।

कालिया भीलों के सांसारिक कार्यों का प्रबन्ध 'गड्डों' के सिपुर्द रहता है। 'गड्डा' वृद्ध या बुजुर्ग को कहा जाता है। गड्डे का पद परम्परागत होता है। लेकिन यदि मृत गड्डे का पुत्र अयोग्य हुआ तो नया गड्डा चुना जा सकता है। पालिया भीलों के सांसारिक और धार्मिक कार्यों के लिए अलग-अलग अध्यक्ष होते हैं। इनको 'गड्डे' और 'बाबा' कहते हैं। कालिये भीलों में एक ही व्यक्ति दोनों प्रकार के कार्य सम्पादन कर लेता है।

जंगलों में रहने के कारण प्राचीनकाल में भील प्रायः नंगे रहते थे। कुछ लोग बल्कल धारण करते थे। सुदूर जंगलों के भील तो अब भी बल्कल ही पहनते हैं। लेकिन ग्रामों में रहने वाले तथा खेती बाड़ी करने वाले सम्पन्न भील धोती पहनते हैं, पगड़ी और अंगरखा भी पहिनते हैं। कुछ लोग एक वस्त्र और रखते हैं

जो कमर में कमरबन्द की तरह लगाया जा सके। स्त्रियां लेहंगे, साड़ी और कांचली पहिनती हैं। विधवाओं की साड़ी प्रायः काले रंग की होती है। स्त्रियों में घूंघट की प्रथा प्रचलित है। स्त्रियों के लेहंगे और आदमियों की धोतियां काफी ऊँचे होते हैं ताकि काम करते समय इधर-उधर उलझ न सकें। कानों में बालियां पहनने का भीलों को बड़ा शौक है। गरीब भील सिर पर एक मैला-सा कपड़ा बाँधते हैं और कमर में एक छोटा-सा वस्त्र लपेटते हैं। कुछ लोग सिर के बालों में कंगी करते हैं; कुछ नहीं भी करते हैं। गमेंतियों के पास चांदी के कन्दोरे भी रहते हैं। पैसे वाले तलवार और बन्दूक भी रखते हैं। साधारणतः स्त्रियाँ पीतल का चूड़ा पहनती हैं। कुछ लाख और काँच की चूड़ियाँ भी पहनने लगी हैं। उनके हाथ-पैरों में प्रायः चार या अधिक धातु की चूड़ियाँ या कड़े होते हैं। विवाहित स्त्रियाँ एक विशेष प्रकार के 'पायल' पहनती हैं। कोई-कोई तो घुटनों तक पीतल की मोटी-मोटी पीजणियां पहनती हैं। इस बड़े भारी बोझ के होते हुए भी ये स्त्रियाँ तेजी से चलती हैं और सारे काम करती हैं। बच्चे तो युवावस्था तक नंगे ही रहते हैं।

भीलों का भोजन साधारणतः ग्रामीणों और जंगली लोगों के भोजन से मिलता-जुलता है। वे कुत्ते और बन्दर का मांस नहीं खाते। छिपकली, सांप और चूहे भी नहीं खाते। ज्वार, बाजरा और मक्का आदि सस्ते अनाज ही ये पैदा करते और खाते हैं। त्यौहारों के समय ये भैंसे और बकरे का मांस खाते हैं। आम और महुए इनको बहुत प्रिय हैं। यदि चढ़ाई के समय सरकारी फौज आम और महुए काटने लगती है तो ये जल्दी ही सुलह कर लेते हैं। ये लोग तम्बाखू पीते हैं और सुरापान भी इनमें काफी प्रचलित है। महुओं, बम्बूल की छाल अथवा गुड़ से ये लोग अपने पीने की शराब तैयार कर लेते हैं। सामूहिक रूप से भी

विवाह, जन्म, मृत्यु, सगाई तथा उत्सवों के समय शराब पी जाती है। पंचायती बैठक में भी शराब पी जाती है। इनके लड़ाई-झगड़े शराब पीने के बाद शुरू होते हैं और शराब पीकर ही इनका अन्त भी होता है। बिना शराब और दावत के किसी का अपराध क्षमा नहीं होता है। उसे दण्ड स्वरूप शराब पिलाना या दावत देनी पड़ती है।

भील लोग भूत प्रेतों में बड़ा विश्वास रखते हैं। बड़े ग्रामों में सब जगह इनके 'भोपे' डायन स्त्रियों का पता लगाते हैं। डायनों को बड़ी कड़ी सजाए दी जाती है। उनकी परीक्षा भी बड़ी कठोर होती है, लेकिन आजकल ये बातें कम होती जा रही हैं। ये लोग शकुन में भी विश्वास रखते हैं। जब बिल्ली रास्ता काट जाती है तो घर लौट आते हैं। इस प्रकार के अन्य शकुन-अपशकुन पर भी ये विश्वास रखते हैं।

भीलों में बालक के जन्म के समय बड़ी खुशी मनाई जाती है। ये लड़की का पैदा होना अच्छा नहीं मानते। पुत्र जन्म शुभ माना जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे कन्या को मार डालते हैं। दूसरी जातियों की भांति उनमें भी लड़के का जन्म अच्छा माना जाता है। जब बालक का जन्म होता है तो नाल काट-कर दरवाजे के बाहर गाड़ दी जाती है। उसे गाड़ने का काम प्रायः प्रसूता का देवर करता है। जन्म होते ही ढोल बजाया जाता है ताकि आस-पास के लोगों को सूचना हो जाय। यदि ढोल न हो तो गुरू या और कोई व्यक्ति आस-पास सूचना कर देता है। सूचना मिलते ही सब लोग आ जाते हैं और यथाशक्ति भेंट देते हैं। कुछ भीलों के यहां इस अवसर पर कामरिया या भाट भी आता है। वह दरवाजे पर खिलौने का घोड़ा रख देता है और बाहर बैठ कर शीतला माता की स्तुति करता है।

भील शीतला माता से बहुत डरते हैं । इसलिए उसकी स्तुति की जाती है। भूत-प्रेत से बालक की रक्षा के लिए उसके बिस्तर के पास बाण रख दिया जाता है। जन्म के पांचवें दिन एक संस्कार किया जाता है। माता अच्छे वस्त्र पहिन कर सूर्य की ओर मुँह करके बैठती है। सारे कुटुम्बी भी उस समय उपस्थित रहते हैं। माता सूर्य भगवान से प्रार्थना करती है कि वे बच्चे को शुभ आशीर्वाद दें । उपस्थित लोगों को राबड़ी और शराब बांटी जाती है। जब बालक दो मास से ज्यादा का हो जाता है तब उसके बाल काट दिये जाते हैं और उसका नामकरण संस्कार किया जाता है। जिस दिन बच्चे का जन्म होता है उसी वार के ऊपर उसका नाम रख दिया जाता है। जैसे मङ्गलवार को पैदा होने वाले बालक या बालिका का नाम मंगला या मंगली रख दिया जाता है। ऋतुओं, पौधों आदि के नाम पर भी बालकों के नाम रखे जाते हैं।

बालक के जन्म के बाद जब पहली होली आती है तब मामा उसके लिए कपड़े, शराब और एक बकरा लाता है। बच्चे को उस बकरे का मांस खिलाया जाता है और शराब का घूट पिलाया जाता है। इसके बाद पिता उपस्थित रिश्तेदारों को दावत देता है; स्त्रियों को कपड़े भी दिये जाते हैं। इसी प्रकार पहली दीपावली आने पर चौदस की रात्रि को झोपड़ी के सामने मक्का का एक ढेर लगाया जाता है। उसके बीचों बीच एक बांस गाड़ा जाता है। बांस से मां का घाघरा (लेहंगा) बांधा जाता है और उसके ऊपर एक उलटा लोटा रखा जाता है। दीपावली की रात्रि को इस मक्का के ढेर के आस-पास दीपक लगाये जाते हैं । दीपावली के दिन बालक की भुआ आती है और उसको कपड़े भेट करती है। वह बालक के लिए बालियां और हंसली भी लाती है। कानों में बालियाँ पहनाकर वह बच्चे को सेमर के वृक्ष के पास ले जाती

है और उसके सात चक्कर काटती है। बालक का पिता इसके बदले में उसे वस्त्र भेंट करता है। उस दिन बालक के मामा-मामी भी अपने बहन बहनोई को कपड़े भेंट करते हैं। यह रिवाज कालिया और पालिया दोनों भीलों में प्रचलित है। यदि किसी के बालक जल्दी मर जाते हैं तो वह किसी देवी-देवता के सामने 'झडुलारी बोलमा' करता है। जिसके अनुसार एक विशेष अवस्था तक बालक के बाल बढ़ाये जाते हैं और उस अवधि के समाप्त होने पर उस देवता के सामने वे बाल काटे जाते हैं। ऐसे बालकों का नाम भी उन देवी देवताओं के नाम पर ही रखा जाता है।

१२ वर्ष की अवस्था तक किसी समय बालक के हाथ पर तपाये लोहे का कोई चिन्ह बना दिया जाता है। भीलों का बिश्वास है कि जिसको यह चिंन्ह नहीं होता उसे मरने के बाद भगवान दण्ड देता है। उसे स्वर्ग नहीं मिलता। कुछ भीलों का यह भी कहना है कि ऐसा करने से बालक को दूर तक दौड़ने की शक्ति आ जाती है। लेकिन यह उनका अन्ध-विश्वास ही जान पड़ता है।

हिन्दुओं की तरह उनमें भी सगोत्र विवाह नहीं होता। शायद हिन्दुओं का ही प्रभाव है। भीलों में प्रायः प्रत्येक शाखा की एक-एक अधिष्ठात्री देवी होती है जिसे गोत्र देवी कहते हैं। एक ही देवी को मानने वाले आपस में विवाह-सन्बन्ध नहीं करते। इनमें बहु विवाह प्रचलित है अतः कोई भी व्यक्ति दो या अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता है। बहुधा विवाह योग्य अवस्था के पूर्व ही कन्या की सगाई हो जाती है। वर, उसका पिता या कोई सन्बन्धी कन्या के लिए मंगनी करता है यदि पिता की इच्छा होती है तो स्वीकार करता है नहीं तो अस्वीकार कर देता है। यदि कन्या का पिता वर को पसन्द कर ले तो दोनों पक्ष के लोग

कन्या का 'दापा' अर्थात् मूल्य तय कर लेते हैं। कहा जाता है कि यह दापा उनसे ५०) तक तय हो जाता है। कालिया भीलों में वर के पिता को १६) दापे में देने पड़ते हैं। इनमें से ५) वर को कम्बल के मूल्य के रूप में लौटा दिये जाते हैं। पालिया भीलों में कभी-कभी ६५) तक भी दिये जाते हैं। दापे की बातचीत तय हो जाने पर सगाई होती है, लेकिन उसके लिए कोई रस्म अदा नहीं करनी पड़ती। दापे का रुपया चुका कर सगाई तय हो जाने के बाद विवाह की निश्चित तिथि से कई दिन पहले ही बहुत से दस्तूर होने लगते हैं और राग-रंग प्रारम्भ हो जाता है। मिट्टी की एक गुड़िया बनाई जाती है और उसे सब तरफ से सुईयों से छेद कर वर के घर में रख देते हैं। शायद यह सिर से पैर तक तीरों से सुसज्जित धनुर्धर भील का सूचक हो। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि भीलों का गुरु दुलहिन के घर से आटे और हल्दी की पीठी दूल्हे के यहां ले जाता है। इस पर वर का पिता नवदम्पति को वस्त्र भेंट करता है और दोनों ओर से फूलों और जागरी (दानेदार भूरी चीनी) का अदान-प्रदान होता है। तब वर और कन्या दोनों के घर पर गाना-बजाना-नाचना प्रारम्भ हो जाता है। विवाह के दिन दूल्हा और उनके इष्ट मित्र पीठी की मालिश करवाते हैं। दूल्हे की पगड़ी में मोर पंख लगाया जाता है। सिर पर पीली पगड़ी, गले में सफेद रुमाल और हाथ में तलवार यही उसकी वेष-भूषा रहती है। प्रस्थान के पूर्व वर को माता का स्तन पान करना पड़ता है। यदि मां न हो तो विमाता, बहन, बड़ी भौजाई आदि किसी का स्तन पान करना पड़ता है। इसे 'बोबो देवा' कहते हैं। बरात रवाना होते समय स्त्रियां दूल्हे के सिर पर हल्दी-नमक डालती हैं ताकि वह भूत-प्रेतों से सुरक्षित रहे। इसके बाद बरात रवाना होती है। जब ससुराल का गांव निकट आ जाता है तब ससुर आता है और तिलक लगा कर

जमाई को १) भेट करता है। ससुराल के द्वार पर दूल्हा वहां लगे हुए तोरण को तलवार या लकड़ी से मारता है। इसके बाद उसकी आरती उतारी जाती है। द्वार पर कुंकुम का तिलक लगा कर सास उसके गले में रूमाल बांध कर उसे विवाह-मण्डप में ले जाती है; यहां हवन और फेरे होते हैं। इसी समय 'हथलेवो जोरवो' होता है जिसके अनुसार वर वधू के हाथ जोड़े जाते हैं। फेरे के बाद दुलहिन बारी-बारी से अपने सम्बन्धियों के कंधों पर बिठला कर नचाई जाती है। शाम को दावत होती है जिसमें बकरे या भैंसे का गोश्त बनता है और खूब शराब पी जाती है। भील कहते हैं कि सुरापान के बिना विवाह संस्कार सम्पन्न ही नहीं होता। लेकिन प्रायः शराब से रंग में भंग हो जाता है। लोग नशे में चूर होकर लड़ने-झगड़ने लग जाते हैं। यहां तक कि कभी-कभी कुछ लोग घायल हो जाते हैं। वर-वधू के विश्राम के लिए अलग झोपड़ी दी जाती है। दूसरे दिन सुबह वधू का पिता वधू को थाली, लोटा चूड़ी, पिजड़ियां, कांवी आदि गहने, एक बकरी और हो सके तो एक गाय भी देता है। वर के पिता को पगड़ी बंधवाई जाती है। इसके बाद बरात लौट जाती है।

भीलों में तलाक़ की प्रथा भी प्रचलित है। तलाक़ देने वाला व्यक्ति उच्च स्वर से अपने सम्बन्धियों के सामने अपनी इच्छा प्रकट करता है और अपनी स्त्री की साड़ी चौड़ाई की ओर से फाड़ता है और उसमें एक रुपया बांध कर स्त्री को लौटा देता है। तलाक के प्रमाण के रूप में स्त्री उसे अपने पास रखती है। यदि वस्त्र लम्बाई की तरफ से फाड़ा जाय या बिना तलाक की रस्म अदा किये कोई स्त्री दूसरे से विवाह कर ले तो उसके पति को पहिले पति को हर्जाना देना पड़ता है। भीलों में विधवा विवाह भी होता है। इसे 'नात्रा' या 'करेवा' कहते हैं। पति की मृत्यु के बाद कुटुम्बी उससे उसकी इच्छा जानते हैं, यदि वह विवाह करना

चाहती है तो वह अपने पिता के घर जाने की इच्छा प्रकट करती है। यदि मृत पति का छोटा भाई होता है और यह उसे रखना चाहता है तो आगे बढ़ कर कहता है कि मैं अपनी भावज को किसी दूसरे के घर में नहीं जाने दूँगा। यह कह कर वह उसके ऊपर वस्त्र डालता है और अपने यहां रख लेता है। यदि देवर न हुआ या उसे वह न रखना चाहे तो वह अपने पिता के घर चली जाती है। वहां जिस व्यक्ति से नात्रा करना तय होता है वह शनीवार की रात को कुछ कपड़े और जेवर लेकर आता है। उनका पाणी-ग्रहण हो जाता है और कुटुम्बी लोग साथ बैठ कर भोजन करते और शराब पीते हैं।

भीलों को नाच गान का बड़ा शौक रहता है। यदि किसी भीलनी का पति अच्छा नाचने वाला नहीं हुआ तो ऐसा भी होता है कि वह उसे छोड़ कर किसी अच्छे नाचने वाले से नात्रा कर लेती है। प्रति वर्ष कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन सब लोग एकत्र होते हैं। इस दिन सबके शरीर में उनके पूर्वज आते हैं। सुरापान से उन्मत्त होकर वे खूब उछल-कूद करते हैं। हर एक कहता है मैं अमुक पूर्वज हूँ और मुझे अमुक पाल के अमुक व्यक्ति ने मारा था जिसका बदला नहीं लिया गया। यदि इस समय उस पाल वाला हो तो झगड़ा भी हो जाता है।

भील असभ्य और जंगली हैं अतः आपसी लड़ाई झगड़े साधारण सी बात है। कभी कभी-किसी बात को लेकर एक उप-जाति का दूसरी उपजाति से या एक गांव का दूसरे गांव से झगड़ा हो जाता है। गांव के मुखिया से लड़ने की इजाजत ली जाती है। यदि उसने स्वीकृति दे दी तो कुछ लोग 'फाइरे फाइरे...' कह कर चिल्लाते हैं। कहीं-कहीं ढोल भी पीटा जाता है और सब स्त्री-पुरुष एकत्र हो जाते हैं। सब लोग मिल कर शराब पीते हैं

और जब नशा चढ़ जाता है तो स्त्रियों को आगे करके उस गांव की ओर चल देते हैं । वहाँ पहुँच कर एक दूसरे पर पत्थर फेंकते और गालियां देते हैं। जब दोनों दल लड़ाई के लिए तैयार हो जाते हैं तो स्त्रियाँ हट जाती हैं और धनुष बाण से लड़ाई प्रारंभ हो जाती है। स्त्रियां घायलों की सेवा सुश्रुषा में लग जाती हैं । वे दूसरी ओर से आये हुए तीरों को भी इकट्ठा करती है और अपने आदमियों को देती है। लड़ाई समाप्त होने पर नियमानुसार पंचायत की बैठक होती है। पंच लोग जुर्माना दिला कर झगड़े का अंत करते हैं। फिर दोनों पक्ष एक दूसरे को अपने हाथों से अफीम पिलाते हैं और झगड़ा मिट जाता है । अपने आपसी झगड़े भी वे पंचायत के द्वारा तय करते हैं। मनुष्य हत्या के लिए प्रायः २००) जुर्माना देना पड़ता है। जब तक यह जुर्माना न दिया जाय दोनों पक्षों में तनातनी रहती है। जो व्यक्ति जातिद्रोह या विश्वासघात करता है उसका माल असबाब लूट लिया जाता है और उसे पाल से निकाल दिया जाता है।

भीलों की सौगन्ध खाने की रीति भी बड़ी रोचक है। साफ-सुथरी जगह में गोल चक्कर बनाया जाता है। उसके अन्दर शपथ लेने वाला बैठता है। वहां एक तलवार भी रखी जाती है। तलवार पर रखी हुई अफीम में से कुछ वह व्यक्ति खाता है। बस उसका इकरार पक्का हो जाता है। दूसरा तरीका यह भी है कि ऋषभ-देवजी पर चढ़ाई हुई केसर को पानी में मिला कर पिलाया जाता है। ये क्रियाएं हो जाने के बाद वह व्यक्ति उस बात को निभाने के लिये बाध्य हो जाता है।

लड़ाई के समय वे तीर कमान, बन्दूक, तलवार, ढाल सब का प्रयोग करते हैं। प्रायः बन्दूक कम लोगों के पास होती है और उनके प्रिय धनुष बाण तो सब के ही पास होते हैं। भील अक्सर

तीर चलाते समय अँगूठे का प्रयोग नहीं करते। एकलव्य ने अपने गुरु द्रोणाचार्य को अपना अँगूठा दे दिया था, शायद इसका यही कारण हो। लड़ाई के समय ढाल वाला व्यक्ति सबसे आगे रहता है वह शत्रु के तीरों को अपनी ढालों से रोकता है और उसके पीछे रह कर पांच दस व्यक्ति तीर छोड़ते रहते हैं। हर एक घर से दो-दो चार-चार रोटियां लाकर स्त्रियां लड़ने वालों को खिला जाती है। यदि रोटियां न हो तो महुए ही राँध कर ले आती हैं। और अगर वे भी न मिले तो भैंस-बकरे आदि किसी जानवर का मांस ले आती हैं और ये लोग उसे आग पर सेंक कर खा लेते हैं।

चोरी और लूट-मार को वे अपना धन्धा ही समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह कोई बुरी बात नहीं होती। लेकिन जब तक वे मार-पीट नहीं करते, कोई लूटी हुई चीज नहीं ले जाते। यदि कोई उनसे कहे भी कि "भाई, हमारे पास तो ये चीजें हैं, इनको ले ले; मगर हमको पीटे मत।" तो भी वे नहीं मानते। उसके शरीर पर कुछ न कुछ घाव कर ही देते हैं। उनका विश्वास है कि यात्रियों को मार कर लेने से वह चीज उनके अपने परिश्रम से प्राप्त की हुई हो जाती है। अन्यथा वह दान जैसी रहती है जिसे वे पसन्द नहीं करते।

वे चोरी और लूट-मार को अपना धन्धा मानते हैं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें कोई गुण नहीं होते। उनका आतिथ्य-सत्कार प्रशंसनीय है। उनके घर जाने वाले व्यक्ति का वे बड़ा सत्कार करते हैं। कोई आदमी कितना ही रुपया-पैसा या असबाब लेकर उनके घर पहुंच जाय वे उसको नहीं छूते। यहां-तक कि वे दूसरे आदमी से उसकी रक्षा करने का भार भी अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके लिए परिवार के लोग जान देने को तैयार हो जाते हैं। वे अपनी स्त्रियों का काफी आदर करते हैं। शत्रु की स्त्रियों पर भी वे हाथ नहीं उठाते।

जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो नाँदला नाम का एक वाद्य बजाया जाता है। उसके बजते ही अड़ौसी-पड़ौसी इकट्ठे हो जाते हैं। वे अपने हाथ में कुछ अनाज लाते हैं। कामरिया या जोगी आकर द्वार पर बैठ जाता है। पास में खिलौने वाले का घोड़ा या मिट्टी की सुराही रख देता है। आने वाले व्यक्ति अपने हाथ का अनाज उसे देते हैं और वह हाथ में पानी लेकर मृत व्यक्ति का नाम लेते हुए घोड़े पर छिड़कता जाता है। भीलों में अधिकतर दाह-संस्कार ही प्रचलित है लेकिन कबीर-पंथी लोग गाड़े भी जाते हैं। यदि कोई प्रसूता स्त्री मर जाय तो उसे स्मशान ले जाते समय परिवार का कोई व्यक्ति अपने हाथ में सरसों लेकर उसे रास्ते में बिखेरता चलता है। इससे उनका अभिप्राय है कि यदि मृत आत्मा लौटे तो उसे सरसों का संग्रह करते-करते ही काफी समय हो जाय और वह प्रातःकाल से पहिले घर न लौट सके। वे प्रसूता का पेट चीर कर बच्चे को निकाल लेते हैं फिर उसे जलाते हैं। बच्चे को गाड़ दिया जाता है। कालिये भील शव को बाँस की अर्थी पर आगे की ओर सिर किये हुए ले जाते हैं। स्त्रियाँ भी साथ जाती हैं। मिट्टी के बरतन में आग और एक लड्डू लेकर मृत व्यक्ति का पुत्र या निकटतम सम्बन्धी सब से आगे चलता है। स्मशान पहुँचने पर लड्डू बिखेर दिया जाता है। दाह-क्रिया किसी नदी-नाले के किनारे पर की जाती है। तीसरे दिन अस्थियाँ चुनकर उन्हें किसी नदी-नाले में डाल दिया जाता है। उनका विश्वास है कि जब तक अस्थियाँ किसी तीर्थ-स्थान या नदी में नहीं डाली जांय तब तक मृतात्मा पृथ्वी पर ही रहता है और अपने घर आता रहता है। मृत्यु के बाद पहली होली, दीवाली या राखी के दिन मृत व्यक्ति के परिवार वाले 'सोंग भोगणा' नामक एक दस्तूर करते हैं। इस दिन इस दस्तूर के होते ही शोक समाप्त हो जाता है। सब कुटुम्बी एकत्र होकर रोते हैं फिर साथ बैठ कर शोक को विस्मृत करते हैं।

जब तक यह दस्तूर नहीं होता वे लोग नाच-गान, विवाह-उत्सव आदि में भाग नहीं लेते।

मृत पुरुषों की स्मृति में ये लोग पत्थर की छोटी-छोटी शिलायें तैयार करते हैं और उनके ऊपर उसकी आकृति खोदी जाती है। तीर, तलवार, बन्दूक से मरने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में इनका विश्वास है कि वह भूत हो जाता है। जिस स्थान पर ऐसे व्यक्ति की मृत्यु होती है वहाँ उसके शव को गाड़ दिया जाता है और कब्र पर पत्थरों का ढेर लगा देते हैं। इसे वे 'पालिया' कहते हैं। जब भील 'पालिये' के पास से निकलते हैं तो उस पर एक-एक छोटा पत्थर रखते हैं। वे उस पर पत्थर रखना आवश्यक मानते हैं।

भील ईश्वर में विश्वास रखते हैं और पुनर्जन्म में भी। भूत-प्रेत में तो ये खूब विश्वास रखते हैं। भीलों के प्रदेश में पहाड़ियों पर इधर-उधर पत्थर के अनेक छोटे-बड़े ढेर तथा सिन्दूर लगे हुए पत्थर मिलते हैं। पत्थर के इन ढेरों पर वे घोड़े आदि की भद्दी नकलें रखकर अपनी 'बोलमा' की सिद्धि के लिये छोटे-छोटे दीपक जलाते हैं और वहां कपड़े लटका देते हैं। जो घोड़े वहाँ होते हैं वे प्रायः मट्टी के होते हैं और उनमें एक छेद होता है। भीलों का विश्वास होता है कि मृतात्मा इस छेद में से प्रवेश कर के स्वर्ग जाती है। वे कई देवी-देवताओं को मानते हैं। इनको प्रसन्न करने के लिए ये बकरे या भैंसे की बलि भी देते हैं। ऋषभदेवजी या कालाजी में तो इनकी इतनी श्रद्धा होती है कि कालाजी पर चढ़ाई हुई केसर के जल का आचमन करा देने पर ये भयंकर से भयंकर अपराध स्वीकार कर लेते हैं। इसे पीकर वे कभी झूठ नहीं बोलते। मारवाड़ के भील पाबूजी नामक वीर में बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

भीलों की बोलियाँ आर्य भाषाओं से ही निकली हुई हैं। पश्चिमी हिन्दी और गुजराती के शब्द उनकी भाषा में बहुत मिलते हैं। गुजराती के अपभ्रंश उनकी भाषा में ज्यादा हैं। उनकी बोलियाँ अलग-अलग स्थानों में कुछ-कुछ बदल जाती हैं, ऐसा स्वाभाविक भी है। साधारणतः उनके गीत हमें मधुर और कर्ण-प्रिय नहीं लगते लेकिन उनके लिए तो वे कर्ण-प्रिय और मधुर ही हैं। उनको समझना हमारे लिए बड़ा कठिन है। जब वे लोग घास, लकड़ी आदि बेच कर अपने गांव लौटते हैं तब गाते हुए आते हैं। पहली बार स्त्रियां गाती हैं फिर पुरुष। एक सहृदय के लिए इनके गीतों में भी बड़ा रस है।

भील एक वीर जाति है लेकिन आज वह बड़ी ही बुरी अवस्था में है। एक ओर उनके अज्ञान और बेबसी के कारण उनका शोषण हो रहा है। दूसरी ओर वे स्वयं भी संसार की उन्नतिशील बातों से बेखबर हैं। श्रद्धेय ठक्कर बापा ने उनके सम्बन्ध में लिखा है:—

"मनुष्य ने अपने ही भाइयों की कितनी दुर्दशा की है यदि इसका उदाहरण देखना है तो हमें अपने बनवासी या आदिवासी भाइयों की दशा को देखना चाहिए। भीलों का अतीत कितना गौरवमय रहा है। जिस जाति ने राणा प्रताप का कठिन से कठिन समय में भी साथ नहीं छोड़ा और जो मेवाड़ राज्य की प्रधान सहायक रही है वही जाति दीन-भाव से हमारी ओर अपने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और शैक्षणिक विकास के लिए देख रही है। क्या हम अपनी सहायता का हाथ उसकी ओर नहीं बढ़ायेंगे?"

ठक्कर बापा की प्रेरणा से राजस्थान में भीलों की सेवा का कार्य अब प्रारम्भ हो गया है। उदयपुर में सन १९४२ में बन-

वासी सेवा संघ की स्थापना हो चुकी है। इसी प्रकार अन्य संस्थाएँ भी कार्य कर रही हैं। जनता भी उनको अपनाने और आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्न कर रही है। बनवासी सेवा संघ जैसी संस्थाओं ने उनके लिए पाठशालाएँ खोल कर शिक्षा की व्यवस्था की है, उनमें सामाजिक सुधार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है और बैठ-बेगार आदि जुल्मों से मुक्त कराने का प्रयत्न किया है लेकिन ये सारे सुधार अभी समुद्र में बूँद की तरह हैं। भीलों की सेवा का विस्तृत क्षेत्र अब भी खुला है।

राजपूत

राजपूतों के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। टॉड, स्मिथ आदि इतिहासकारों ने राजपूतों को शक, हूण आदि के वंशज बताया है। उन्हीं के आधार पर कुछ भारतीय इतिहास लेखक भी राजपूतों को शक और हूणों के वंशज मानते हैं। एलफिस्टन-रचित भारतवर्ष के इतिहास के सम्पादक श्री. ई. बी. कोवेल ने टॉड की युक्तियों का खण्डन किया और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राजपूत लोग हिन्दू क्षत्रिय हैं। राय बहादुर गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने भी राजपूतों को क्षत्रिय सिद्ध किया है। ओझाजी ने कोवेल महोदय के तर्कों का आश्रय नहीं लिया है। लेकिन इन दोनों विद्वानों ने अपने-अपने तर्कों से यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि राजपूतों की संस्कृति विशुद्ध आर्य थी। हम यहां संक्षेप में दोनों पक्षों के मतों पर विचार करेंगे।

ओझाजी ने लिखा है कि जिस प्रकार 'राजपूताना' शब्द अंग्रेजों के समय में प्रसिद्ध हुआ उसी प्रकार 'राजपूत' शब्द मुसलमानों के समय में प्रचलित हुआ। आजकल 'राजपूत' शब्द एक जाति या वर्ण विशेष के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'राजपूत' संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल में 'राजपुत्र' शब्द जाति-वाचक नहीं था। उससे क्षत्रिय राजकुमारों या राजवंशियों का बोध होता था। बहुत प्राचीनकाल से भारतवर्ष में क्षत्रिय राजा थे और उनका राज्य लगभग सारे भारतवर्ष में फैला हुआ था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, कालिदास के काव्य और

नाटकों, अश्वघोष के ग्रन्थों, बाणभट्ट के हर्ष चरित्र तथा काद-म्बरी आदि पुस्तकों एवं प्राचीन शिला-लेखों तथा दान-पत्रों में राजकुमारों और राजवंशियों के लिए 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। मुसलमानों के शासन-काल में क्षत्रियों के राज्य धीरे-धीरे अस्त होते गये और जो बचे उन्हें मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। अब वे राजा से सामन्त बन गये। अतः अब राजवंशी होने के कारण उनके लिए 'राजपूत' शब्द का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे यह शब्द उस जाति का सूचक हो गया और साधारण प्रयोग में आने लगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्षत्रिय वर्ण वैदिक काल से ही इस देश पर शासन करता रहा है। आर्यों की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रजापालन, दान देना, यज्ञ करना, शास्त्रों का अध्ययन करना क्षत्रियों का कर्म माना जाता था।

टॉड की पुस्तक के सम्पादक मि. विलियम कुक लिखते हैं—"राजपूतों की कुछ शाखाएँ भले ही खींच-तान कर भाटों की सहायता से अपना सम्बन्ध बौद्ध-कालिक क्षत्रियों से ढूंढ निकालें; ये क्षत्रिय तात्कालिक हिन्दू-समाज के एक प्रमुख अंग थे और अपने आपको ब्राह्मणों से भी बढ़ कर समझते थे। परन्तु यह बात निश्चित है कि अधिकांश राजपूत वंशों का प्रारम्भ ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि में शकों पर कुशनों के आक्रमण के साथ हुआ। बल्कि यदि उनकी उत्पत्ति ४८० ई० में हूणों द्वारा गुप्त साम्राज्य के विनाश से समझी जाय तो और भी उचित हो। इन हूणों के साथ गुर्जरों ने विवाह सम्बन्ध कर लिये तथा दोनों ही हिन्दू हो गये। हूण गुर्जर संयोग से राजपूतों के उच्च वंशों का उद्भव हुआ। जब राजकीय शक्ति के इन दावेदारों ने ब्राह्मणों के धर्म और व्यवस्थाओं को मान लिया तो स्वभावतः इनको रामायण और महा-

भारत के पौराणिक पुरुषों की सन्तति सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाने लगा। इसी समय टॉड के इतिहास में वर्णित उन दन्त कथाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें राजपूतों को पीरू के इनकास अथवा जापान के पिकाडो की तरह सूर्य-चन्द्र की सन्तान ठहराने की चेष्टा की गई।

इतिहास लेखक टॉड साहब की राय है कि राजपूत शकों या सीथियनों के वशंज हैं। वे कहते हैं कि पृथ्वीराज रासों में राजपूतों की चारों शाखाओं की उत्पत्ति अग्नि से होना बताया गया है। रासो के इस वर्णन से इस कथन की पुष्टि होती है। डा. भाण्डारकर का भी यही मत है। स्मिथ रचित भारतवर्ष के प्रारम्भिक इतिहास के संपादक श्री एडवर्डस् अग्नि-कुल वाली दन्त-कथा का अर्थ विदेशियों की अग्नि से शुद्धि होना लगाते हैं। उनका कहना है कि शक आदि विदेशी दक्षिणी राजपूताने (आबू) में अग्नि द्वारा पवित्र कर के द्विजातियों में प्रवेश पाने योग्य बताये गये। प्रमार, प्रतिहार, चाहुमाण और सौलंकी राजपूतों की उत्पत्ति रासो में अग्नि से लिखी है जिसका उपर्युक्त रीति से अर्थ लगाया जाता है।

इसके अतिरिक्त टॉड ने अपने कथन की पुष्टि के लिए निम्नलिखित बातें भी बताई हैं—

(१) यह बात निश्चित है कि राजपूतों के कुछ वंश सिन्धु नदी के पश्चिम से भारतवर्ष में आये।

(२) कुछ राजपूत वंशों के नाम सीथियन हैं।

(३) दूसरी शताब्दी में सिन्धु के नीचे के प्रान्तों में इण्डो-सीथियन विद्यमान थे।

(४) कौसमस इन्डिकोप्लुस्टेस के समय (छठी शताब्दी) में उत्तरी भारत में श्वेत हूण बसते थे।

(५) डी गुइन्स ने चीनी लेखकों के आधार पर सिन्धु तट के प्रदेश पर यूची या गेटी वंश वालों का अधिकार होना बताया है और सिन्धु के तट पर अब भी इस वंश वाले बसते हैं जिन्हें जिट कहते हैं।

(६) राजपूतों के बहुत से रीति-रिवाज एवं धार्मिक कृत्य सीथियन लोगों से मिलते हैं। जैसे—

(क) अश्वपूजन

(ख) अश्वमेघ यज्ञ

(ग) भाट-चारण इत्यादि

(घ) स्त्रियों का महत्व

(ङ) सती प्रथा

(च) युद्ध में रथों का प्रयोग

(छ) शकुनों और भविष्य वाणियों में विश्वास

(ज) मदिरा आदि मादक द्रव्यों का सेवन

(झ) शस्त्र पूजन

(ञ) शस्त्र दीक्षा

(ट) राजपूतों के सभी विधि विधान वीरता पूर्ण एवं रक्त रञ्जित होते हैं इनका देवता भी युद्धदेव 'हर' है। वे रुधिर और मदिरा की बलि भी चढ़ाते हैं। दूसरी ओर अन्य हिन्दू बहुत ही कोमल चित्त हैं, उनके देवता भी निरुपद्रवी तथा शान्ति प्रिय हैं। इससे

भी सिद्ध होता है कि हिन्दू और राजपूत एक नहीं है, वे अलग-अलग जाति के हैं।

विसेन्ट स्मिथ केवल इसी बात से सहमत नहीं हैं कि राजपूत शकों की संतान हैं बल्कि उनकी राय तो यह है कि राजपूतों में हूण, गुर्जर और आदिम निवासियों का भी रक्त मिला हुआ है। लेकिन यह केवल उनकी कल्पना ही है। इसकी पुष्टि में उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया है।

आइये, अब दूसरे पक्ष के विचार और उपर्युक्त युक्तियों के खण्डन सुनिये। अग्निकुल वाली किंवदन्ती पृथ्वीराज रासो में वर्णित है। लेकिन पृथ्वीराज रासो कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। नागरी प्रचारिणी सभा के स्मारक ग्रन्थ में श्री. ओझाजी ने एक लेख लिख कर उसका रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी सिद्ध कर दिया है। इस ग्रन्थ में क्षेपक भी बहुत हैं। अतः राजपूतों की उत्पत्ति अग्नि से होना सही नहीं है। श्री. ओझाजी ने राजपूताने के इतिहास में चारों वंशों की उत्पत्ति पर इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं—

"वि. सं. ८१३ से लगा कर वि. सं. १६०० तक के चौहानों के बहुत-से शिला-लेख, दानपत्र तथा ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तकें मिली हैं जिनमें से किसी में उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा। 'पृथ्वीराज विजय' में जगह-जगह उनको सूर्यवन्शी बताया है। पृथ्वीराज से पूर्व अजमेर के चौहानों में विग्रहराज बड़ा विद्वान और वीर राजा हुआ जिसने अजमेर में एक सरस्वती मन्दिर स्थापित किया।...वहीं से मिली हुई एक बहुत बड़ी शिला पर किसी अज्ञात कवि के बनाये हुए चौहानों के इतिहास के किसी काव्य का प्रारम्भिक अंश खुदा है जिसमें भी चौहानों को सूर्य-

वंशी ही लिखा है। ...'हंमीर महाकाव्य' में भी चौहानों को सूर्य-वंशी होना माना गया है। अतएव स्पष्ट है कि वि. सं. की १६ शताब्दी के पूर्व चौहान अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे।

शक सं. ३१० (वि. सं. ४४५) से लगा कर वि. सं. की सोलवीं शताब्दी तक सोलंकियों को अनेक दानपत्र शिलालेख तथा कई ऐतिहासिक संस्कृत ग्रन्थ मिले जिनमें कहीं उनका अग्निवन्शी होना नहीं लिखा। किन्तु उसके विरुद्ध उनका चन्द्रवन्शी और पाण्डवों की सन्तान होना जगह-जगह बताया है।

वि. सं. ८७२ से लगा कर वि. सं. की १४ वीं शताब्दी के पीछे तक प्रतिहारों (पडिहारों) के जितने शिलालेख, दानपत्र आदि मिले उनमें कहीं भी उनका अग्निवंशी होना नहीं माना। वि. सं. ९०० के आस-पास की ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोजदेव की बड़ी प्रशस्ति में प्रतिहारों को सूर्यवंशी बताया है।

अब रहे परमार। मालवा के परमार राजा मुंज के समय अर्थात् वि. सं. १०२८ से. १०५४ के आस-पास होनेवाले उसके दरबार के पं. हलायुध ने पिंगल सूत्रवृत्ति में मुञ्ज को 'ब्रह्मक्षत्र' कुल का कहा है।........मुन्ज के समय के पीछे के शिलालेखों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में परमारों के मूल पुरुष का आबू पर वशिष्ठ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न होना अवश्य लिखा मिलता है। परन्तु यह कल्पना भी इतिहास के अन्धकार के पीछे से की हुई मालूम होती है। परमारों के शिलालेखों में उक्त वंश के मूल पुरुष का नाम धूमराज मिलता है। धूम अर्थात् धुँआ अग्नि से उत्पन्न होता है। शायद इसी पर परमारों के मूल पुरुष का अग्निकुण्ड से निकलना और उसके अग्निवंशी कहलाने की कथा पीछे से प्रसिद्ध हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।"

अतः सिद्ध होता है कि चौहान तथा प्रतिहार सूयवंशी, सोलंकी चन्द्रवंशी और प्रमार ब्रह्म-क्षत्रिय थे। अग्नि वंश होने की बात निराधार है। डा. ईश्वरीप्रसाद की राय में भी ब्राह्मणों ने राजपूतों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए अग्निवंश की कथा गढ़ ली, ताकि राजपूतों का मूल वंश बड़ा पवित्र तथा सम्मान्य समझा जाय।

इस बात से कौवेल साहब सहमत हैं कि कुछ राजपूत सिन्धु के पश्चिम से आये। परन्तु वे लोग आर्य ही थे। श्रीकृष्ण के अवसान के पश्चात् यादव लोग पश्चिम में चले गये थे। सिकन्दर ने भी दो प्रकार के भारतीयों को सिन्धु नदी के दोनों तटों पर बसा हुआ पाया—एक पेरोपेपिसस में दूसरे समुद्र के आस-पास। इसी बात से प्रकट होता है कि बाहर से आने वाले राजपूत भी आर्य थे तथा उनमें शकों का कोई अंश नहीं था।

दूसरी ओर ओझाजी यह सिद्ध करते हैं कि शक, हूण इत्यादि भी आर्य ही थे जिनको बौद्धमत ग्रहण करने के कारण ब्राह्मणों तथा स्मृतिकारों ने जातिच्युत कर दिया था। आपने पुराणों, स्मृतियों और महाभाष्य इत्यादि से प्रमाण दिये हैं कि आर्यावर्त के उत्तरी प्रदेशों में भी आर्यों की बस्तियां थीं। आपने हूण-क्षत्रिय सम्बन्धों का भी उल्लेख किया है। अतः ओझाजी की राय में राजपूतों में हूण आदि का रक्त है परन्तु वे अनार्य नहीं; क्योंकि न तो भारतीय क्षत्रिय ही अनार्य थे न हूण आदि ही।

कौवेल साहब शकों को आर्य नहीं मानते। उनका कहना है कि राजपूतों और शकों में कोई साम्य ही नहीं। वह लिखते हैं—सीथियन लोग ठिंगने, गोल-मटोल, हट्टे-कट्टे, चौड़े चेहरे वाले, ऊंचे गालो वाले तथा लम्बी-पतली और तिरछी आँखों वाले होते हैं। उनका निवास तम्बुओं में होता है। उनका पेशा भेड़ें चराना तथा

वस्त्र खाल के बने हुए होते हैं। वे तेज, चुस्त तथा मेहनती होते हैं। दूसरी ओर राजपूत लम्बे-चौड़े खूबसूरत और ढीले-ढाले होते हैं। उनके स्वभाव में सुस्ती की मात्रा अधिक होती है। वे भेड़-बकरी चराने को हेय समझते हैं तथा अपनी जमींदारी से ही सन्तुष्ट रहते हैं। इन बातों में दोनों जातियों की केवल शरीर-रचना ही विचारणीय है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि राजपूतों में शकों का खून है ही नहीं।

आइये, अब नामों की समानता की बात ले लीजिये। कौवेल साहब की सम्मति में किसी भी राजपूत वंश के नाम का अर्थ सीथियन भाषा में नहीं मिलता है। यदि किसी नाम का अर्थ भारतीयों को अज्ञात हो तो वह विदेशी नहीं समझा जाना चाहिए। क्योंकि बहुत से नाम अर्थहीन भी होते हैं।

भारतवर्ष में शक रहते अवश्य थे, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे राजपूत ही बन गये थे।

कौसमस एक समुद्री यात्री था, इतिहासज्ञ नहीं। अतः उसकी बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। यह संभव है कि उसने गेटी लोगों के स्थान पर हूण लिख दिया हो। और यदि यह मान भी लिया जाय कि उत्तरी भारत में हूण लोग रहते थे तब भी यही सिद्ध होता है कि छठी शताब्दि तक तो राजपूतों से हूण अलग ही समझे जाते थे।

डी. गुइन्स के लेख प्रामाणिक माने जा सकते हैं। उसके कथनानुसार सिन्धु के तट पर सीथियन लोगों का अधिकार था। इन लोगों को चीनी लेखकों ने यूची, तातारियों ने जिट, और पश्चिमी इतिहासवेत्ताओं ने गेटी लिखा है। परन्तु यह निश्चित है कि ये यूची, जिट या गेटी लोग हिन्दू समाज में मिल नहीं गये

थे। ये लोग तातार देश के निवासी थे। ईसा के १२६ वर्ष पूर्व के आस-पास इन्होंने खुरासान जीत लिया फिर यूनानियों से बिक्ट्रिया ले लिया। ईसवी सन के प्रारंभ में उन्होंने सिन्धु देश ले लिया और उनमें से कुछ वहीं बस गये। जब तैमूर भारतवर्ष आ गया तो उसने अपने इन पुराने शत्रुओं को पहिचान लिया। ये लोग सिन्ध, बलोचिस्तान और पंजाब में अब भी रहते हैं। ये लोग खेती करते हैं। इन्हें जिट या जट कहते हैं। आगरे के आस-पास रहने वाले जाट दूसरी जाति के हैं।

इन जाटों को राजपूतों की वंशावली में स्थान मिला है इससे राजपूतों के कुछ और वंश भी विदेशी हो सकते हैं परन्तु स्वयं टॉड ही कहते हैं कि ये लोग वास्तव में राजपूत नहीं माने जाते। इनके शादी-व्याह राजपूतों में नहीं होते। एक और स्थान पर टॉड साहब इनको हिन्दू समाज में एकदम विदेशी बताते हैं। दूसरे इनकी तथा राजपूतों की भाषा में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। अतः जिट लोग शक या सीथियनों के वंशज हो सकते हैं परन्तु राजपूत तो विशुद्ध हिन्दू ही हैं।

अब राजपूतों और शकों के रीति-रिवाजों की समानता की बात रह जाती है। ओझाजी ने यही बताने की चेष्टा की है कि शक आदि भी आर्य ही थे अतः इनके रस्म-रिवाज राजपूतों से मिलते-जुलते हैं। लेकिन कौवेल साहब का मत है कि सभी प्रारंभिक जातियों के रीति-रिवाज में समानता पायी जाती है। सीथिया वालों की रस्मों का सादृश्य तो जर्मनी और स्कैन्डोनेविया वालों से भी है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे एक हैं। ओझाजी ने प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि जिन रीतियों का उल्लेख टॉड ने किया है वे राजपूतों की अपनी हैं और शकों के भारतवर्ष में आने से बहुत पहिले यहाँ प्रचलित थीं जैसे सूर्य पूजा और

अश्वमेधयज्ञ रामायण और महाभारत के समय भी थे। अतः यह सिद्ध होता है कि राजपूत आर्य वंशज ही हैं।

आइये, अब राजपूतों के प्राचीन रीति-रिवाज तथा समाज व शासन व्यवस्था पर एक दृष्टि डालें। महाभारत के समय राजधानियों तथा अन्य बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें बनाई जाती थीं और उनके आस-पास जल से भरी हुई गहरी खाई खोदी जाती थी। अन्तःपुर में सशस्त्र स्त्रियों का पहरा रहता था। परदे की इतनी कड़ी प्रथा न थी जितनी आजकल है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में लिखा है कि उस समय धूप घड़ी और नालिकाएं रखी जाती थीं। रात में पहर रात के आस-पास तुरही बजने पर राजा शयनगृह में जाता था और सुबह तुरही बजते ही उठ जाता था। योगी और जादूगर प्रसन्न रखे जाते थे। दरवाजों पर देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। गायों और तपस्वियों के लिए शहरों और गाँवों के आस-पास कुछ जमीन छोड़ी जाती थी।

शासन-प्रबन्ध का कार्य राजा अपने आठ मन्त्रियों की सहायता से करता था। वही अठकौसल अब राजपूताने में प्रसिद्ध है। ये मन्त्री प्रधान सेनापति, पुरोहित, गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, न्यायाधीश, आयव्ययाधिपति, और महा संधिविग्रहिक थे। इसके अतिरिक्त जिलों के हाकिम तथा सब वर्णों के श्रेष्ठ पुरुष भी राजसभा में सम्मिलित रहते थे। राजा स्वयं दरबार में आकर न्याय करता था। राजा के मुख्य गुण थे राग-द्वेष छोड़ कर धर्माचरण करना, कार्य में शिथिलता न करना, विषय भोग में न पड़ना, शूरवीर होना, दान देना, दुष्टों को दण्ड देना और सदाचारियों का सम्मान करना, योग्य और कार्य-कुशल लोगों को अधिकार देना, प्रजा के कल्याण में प्रयत्नशील रहना, व्यापार और कला-कौशल की उन्नति करना, प्रजा पर कष्टदायी कर न लगाना आदि।

राजा का अन्तिम मुख्य कर्तव्य यही था कि वह ईश्वर का भय रख कर सत्य मार्ग से विचलित न हो; क्योंकि सारी राज्य सत्ता का आधार स्तंभ सत्य ही है। यदि राजा सत् पथ पर न चलेगा तो प्रजा भी उसका अनुकरण करेगी। 'यथा राजा तथा प्रजा'।

सेना चार प्रकार की होती थी। पैदल, घुड़सवार, हाथी और रथ। सेना को नियत समय पर वेतन दिया जाता था। व्यूह रचना सिखाई जाती थी। सेना के साथ बारबरदारी, नौकर तथा जासूस रहते थे। युद्ध के नियम बंधे थे। नियमानुकूल युद्ध धर्म-युद्ध कहा जाता था। रथी, रथी से; पैदल, पैदल से और घुड़सवार, घुड़सवार से लड़ते थे। भागते हुए शत्रु पर आक्रमण नहीं किया जाता था। शस्त्र भङ्ग होने पर भी शत्रु पर शस्त्र नहीं चलाया जाता था। युद्ध के समय किसानों को कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी और न प्रजा को ही सताया जाता था। इन नियमों का उलंघन निंदनीय समझा जाता था।

इन नियमों का पालन मुगल काल तक मिलता है। महाराणा प्रताप को जब कहा गया कि मानसिंह शिकार के लिए थोड़े से सैनिकों के साथ निकला है और उसे बन्दी बनाने का अच्छा मौका है तो महाराणा प्रताप ने उसे अधर्माचरण कह कर करने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार राणा सांगा से युद्ध करते समय जब मालवे का सुलतान महमूद खिलजी रणक्षेत्र में घायल होकर गिर गया तो महाराणा ने उसे उठवाया और इलाज करवाया। आराम हो जाने पर उसे फिर से राज्य पर बिठवाया।

राजपूत जाति का इतिहास वीरता और शौर्य का इतिहास है। उनकी वीरता में उच्छृङ्खलता और अनुदारता ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी। बड़े-बड़े राजपूत वीरों ने अपनी वीरता को धर्म और न्याय के मार्ग पर ही चलाया है। उनकी वीरता से ही हमारा

बहुत सा इतिहास भरा पड़ा है। मुगलकाल में बादशाही सल्तनत भी उन्हीं के बल पर फूली फली। राजपूत मुगल सेना के प्रमुख अंग थे। राजपूतों ने बलख, बुखारा, काबुल, कन्दहार आदि दूर-दूर के देशों तक अपनी विजय की दुंदुभी बजाई। अकबर के समय में राजपूत सेना सबसे जबरदस्त सेना थी। मानसिंह के सेनापतित्व में उसने बड़े-बड़े प्रदेशों को जीता था और शहाजहां के समय ईरानियों से कन्दहार खाली करवाने के लिए जो सेना भेजी गई उसमें राजपूत हरावल में रखे गये थे।

प्राचीन काल में हिंदुस्तान में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। ये परस्पर लड़ा भी करते थे लेकिन जब बाहरी शत्रु से मुकाबला होता तो सब एक हो जाते थे। जब सिकन्दर ने आक्रमण किया, मल्लोई और क्षुद्रक जातियां अपने पारस्परिक विरोध के बावजूद भी एक हो गईं। इसी प्रकार जब महमूद गजनी ने लाहौर के राजा अनंगपाल पर आक्रमण किया तो बहुत से राजा उसकी मदद करने के लिए आये। सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के समय भी कई हिन्दू राजाओं ने पृथ्वीराज की सहायता की थी। पठानों की बादशाहत तक तो यह प्रथा बनी रही लेकिन अकबर की भेद नीति ने इसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। शाही दरबार के प्रलोभनों ने भाई को भाई का दुश्मन बना दिया।

राजपूतों में स्त्रियों का बहुत आदर होता था। वे वीर पत्नी और वीर माता कहलाने में अपना गौरव समझती थीं। पातिव्रत धर्म, शूरवीरता एवं साहस में वे संसार भर में अपना सानी नहीं रखती। राजपूताने का इतिहास उनकी वीरता, त्याग और बलिदान से भरा हुआ है। अपने देश और धर्म के लिए, सतीत्व और शील के लिए उन्होंने जो उत्सर्ग किया उससे राजस्थान के इतिहास का कोना-कोना जगमगा रहा है। इतिहासकार फ़रिश्ता लिखता है कि,

" जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने युद्ध में सिंध के राजा दाहिर को मार कर उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया और दाहिर का एक पुत्र बिना युद्ध किये भाग निकला उस समय उसकी वीर माता लाड़ी कई हजार राजपूत सेना साथ ले पहिले तो मुहम्मद बिन कासिम से सरे मैदान लड़ी फिर सजधज कर वह वीराङ्गना शस्त्र पकड़े शत्रु से युद्ध करती हुई स्वर्ग लोक को सिधारी। "

जब पृथ्वीराज ने महोबा पर आक्रमण किया तब आल्हा-ऊदल वहां नहीं थे। वे राजा से अप्रसन्न होकर कन्नौज जा रहे थे। उन्हें बुलाया गया लेकिन अपने अपमान का स्मरण करके उन्होंने लौटना स्वीकार नहीं किया। इस पर उनकी हठ छुड़ाने के लिए उनकी माता ने कहा— " हे ईश्वर मुझे बांझ क्यों नहीं बनाया। क्षत्रिय-धर्म का उल्लंघन करनेवाले पुत्रों से तो बांझ रहना ही अच्छा था। धिक्कार है उन क्षत्रिय पुत्रों को जो अपने स्वामी को संकट में देख कर भी चुपचाप रहे। जो ऐसे मौके पर सिर देने के लिए तैयार नहीं होता वह असल का बीज नहीं। " माता के इन शब्दों में क्षत्रिय-जाति का गौरव निहित है। राजपूत स्त्रियां अपने पुत्रों और पतियों को बड़े उत्साह के साथ रणाङ्गण में भेजती थीं। उनकी दृष्टि में स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा से मुँह मोड़ने वाले व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं था। वे पुरुषों को उत्साहित करती थीं, स्वयं लड़ती थीं और अन्त में लड़ते-लड़ते या जौहर करके मर जाती थीं। लेकिन अपनी कुल कीर्ति पर किसी प्रकार का धब्बा नहीं लगने देना चाहती थीं। यह बात तो काफी प्रसिद्ध है कि महाराणा रायमल के पाटवी पुत्र पृथ्वीराज की पत्नी तारादेवी अपने पति के साथ टोड़े गई थी और वहां पठानों के साथ जो युद्ध हुआ उसमें उसने अपने पति की सहायता की थी।

महाराणा सांगा की पुत्री दुर्गावती, चित्तौड़ की रानी पद्मिनी और कर्णवती, चम्पानेर के पताई रावल की रानियां, जेसलमेर के रावल दूदा की रमणियाँ तथा दूसरी अनेकों राजपूतनियों ने समय-समय पर जिस प्रकार जौहर किया वह हमारे इतिहास में प्रसिद्ध ही है। राजपूत स्त्रियों की यह वीरता और बलिदान दुनिया के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता। राजपूत रमणियों के ये बलिदान बताते हैं कि वे कितनी वीर थीं, कितनी साहसी और चरित्रवान थीं।

उस समय पर्दे की प्रथा नहीं थी। धर्मोत्सवों और शिकार के समय रानियाँ राजा के साथ रहती थीं। राज्याभिषेक के समय वे पति के साथ बैठती थीं। लेकिन मुगलकाल में मुसलमानों की देखा देखी ही उन्होंने पर्दे की प्रथा अपनाई थी जो आज तक चली आ रही है।

स्वदेशभक्ति और स्वामि-धर्म राजपूतों के मुख्य गुण रहे हैं। जब-जब देश की रक्षा का समय आया राजपूतों ने अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी। इसी प्रकार स्वामि-भक्ति के अवसर पर भी वे पीछे नहीं रहे। स्वामी की रक्षा करते हुए मरने के हजारों उदाहरणों से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। स्वामी के साथ धोखा करना राजपूतों के लिए एक बहुत बड़ा कलंक होता था। राणा प्रताप की स्वदेश भक्ति और दुर्गादास की स्वामिभक्ति इतिहास में बेमिसाल हैं। लेकिन एक समय आया जब मुगलों की भेद नीति ने उनके इन दोनों गुणों पर पानी फेर दिया। वे फूट के शिकार होकर आपस में लड़ने लगे और अपने स्वामी की छत्र-छाया से छूट कर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। इसी प्रकार जब तक राजपूतों में प्राचीन आचार-विचार, रीति-रिवाज, शासन पद्धति तथा शिक्षा रही तब तक वे प्रगतिशील रहे। जब इनका अभाव हुआ और

स्वार्थपरता तथा अशिक्षा ने घर किया उनका पतन आरम्भ हो गया। वे जात-पांत और मत मतान्तर के झगड़ों में उलझ गये और एक दूसरे से लड़ने में ही अपनी शक्ति खर्च करने लगे। बहु विवाह की प्रथा भी उनकी अवनति का एक कारण है, इस घातक प्रथा ने गृह-कलह, झगड़ों और वैमनस्य को जन्म दिया जिससे उनकी शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इसी प्रकार मद्यपान ने तो उनकी रही सही शक्ति, वीरता और गौरव गरिमा पर भी पानी फेर दिया। उनको राजच्युत होकर मुसलमानों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी और बाद में अंग्रेजों की। और जो बचे उनको भी इनकी ही दशा पर जीना पड़ा। अपने अवनति काल में वे इतनी गहरी नींद में सोये कि स्वातन्त्र्य सूर्य के उदय होने पर भी उनकी नींद नहीं खुली है। लेकिन अब समय आ-गया है कि उन्हें जाग जाना चाहिए और अपने प्राचीन वीरत्व, स्वामिनिष्ठा और देश-प्रेम से स्वतन्त्र भारत को जगमगा देना चाहिए। आज का युग प्राचीन युग से बहुत भिन्न है। यह एकतन्त्र का नहीं, प्रजातन्त्र का युग है। अब समय की स्थिति को देखते हुए उन्हें स्वयं को बदलना होगा। वे राजा रहे हैं लेकिन अब उन्हें जनता के सेवक होकर रहना है और अपने को अपनी जाति और देश के सच्चे सेवक सिद्ध करना है। बहुविवाह, आपसी फूट, मद्य-सेवन तथा अशिक्षा के अन्धकार से ऊपर उठ कर उन्हें सेवा, त्याग और बलिदान के शिखर पर चढ़ कर अपनी प्राचीन प्रथा से फिर भारत का कोना-कोना जगमगाना है।

—:o❀o:—

चित्तौड़गढ़

चित्तौड़गढ़ मेवाड़ ही नहीं भारतवर्ष का मस्तक है। वह जड़ है लेकिन चैतन्य से ओत-प्रोत है; वह वृद्ध है लेकिन आज भी उसमें अनेकों युवकों का बल है; वह जर्जर है लेकिन अब भी आभा से उसका एक-एक कण जगमग है और यद्यपि वह आज कंकाल मात्र है लेकिन उसकी मांसलता अद्वितीय है। देश प्रेमियों और आजादी के दीवानों के लिए वह पुण्यभूमि है, तीर्थस्थान है। जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी वह आजादी का, बलिदान का और शूरवीरता का प्रतीक है। वह ऐसा स्रोत है जिससे युगों तक भावुक भक्तों को बल मिलता रहेगा, जीवन मिलता रहेगा और देश का प्रत्येक व्यक्ति उसका नाम लेते ही फूल उठेगा।

अतीत की सुनहली स्मृतियों में लिपटा हुआ यह किला आज कंकाल मात्र है, जीर्ण-शीर्ण है; लेकिन उसे देख कर किस भावुक का हृदय न भर उठेगा? आज वह अपनी प्राचीन वीरता और वैभव की समाधि-सा बना हुआ बैठा है। लेकिन उसकी यह जर्जर अवस्था भी अतीत के अनेक रोमाञ्चकारी दृष्य आंखों के सामने खींच देता है और उसके जगमगाते हुए दिन चल चित्रों की भांति स्मृतिपट पर साकार हो जाते हैं। अपनी स्थिति और बनावट के कारण यह किला प्राचीनकाल से ही बड़ा प्रसिद्ध रहा है। मुगलकाल में तो इसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी। राजपूताना के इतिहास में इस किले का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ८ वीं शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दि तक यह देश की राजनीति के बड़े-बड़े केन्द्रों में गिना जाता रहा। उस समय

की बहुत-सी बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाएँ इस किले में हुईं। इन आठ शताब्दियों तक वह उस गुहिल वंश की राजधानी रहा जो कदाचित संसार का सबसे पुराना राजवंश है। इसका एक-एक कण राजपूतों के रक्त से रञ्जित है। इस किले का आश्रय लेकर अनेकों राजाओं ने बड़े-बड़े शत्रुओं के दांत खट्टे किये, स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा की और अन्तिम सांस तक लड़ते-लड़ते सहर्ष मृत्यु का आलिंगन किया। हजारों राजपूत स्त्रियों ने भी अपने सतित्व और धर्म की रक्षा के लिए यहीं जौहर किया और ज्वालाओं का आलिंगन करके सदैव के लिए सो गईं। यदि इसमें बोलने की शक्ति होती तो यह हमें ऐसे अनेकों वीरों की गाथाएँ सुनाता जिनके बारे में हमें अब कुछ भी मालूम नहीं है।

बी. बी. एण्ड सी. आई. रेल्वे के चित्तौड़गढ़ जंकशन के पास ही एक पहाड़ी की चोटी पर यह किला बना हुआ है। यह पहाड़ी लगभग साढ़े तीन मील लम्बी और आधा मील चौड़ी है। समुद्र की सतह से इसकी ऊंचाई १८३५ फीट और मैदान के पृष्ठ भाग से ५०० फीट है। जब हम किले पर चढ़ते हैं तो रास्ते में सात दरवाजे आते हैं। प्रत्येक दरवाजे पर लड़ाई के मोर्चे हैं। एक के बाद एक इन सातों दरवाजों को पार किये बिना कोई ऊपर नहीं पहुँच सकता। ऊपर कई छोटे-छोटे तालाब, तलैया और कुण्ड हैं जो निर्मल जल से भरे हुए हैं। इस प्रकार प्रकृति ने एक ओर ऊंची पहाड़ी तथा उसके निर्मल जल के वरदान से और दूसरी ओर मनुष्य ने मजबूत दीवारों और सुदृढ़ मोर्चों से इस किले को अजेय-सा बना दिया था। पहाड़ी की तलहटी में हजार डेढ़-हजार घरों की बस्ती है। इस बस्ती के पास ही एक छोटी-सी बरसाती नदी है। नदी का नाम है गंभीरी। इस नदी पर अला-

उद्दीन खिलजी के पुत्र खिजरखां ने दस कोठे का एक पुल बनवाया था जो आज भी है ।

जब हम किले पर चढ़ते हैं तो पहिला दरवाजा पांडल पोल मिलता है। इस दरवाजे के सामने ही देवलिए के रावत बाघसिंह का स्मारक है। बाघसिंह महाराजा विक्रमादित्य के समय सं. १५९२ में बहादुरशाह गुजराती से लड़ता हुए मारा गया था। बाईं ओर गढ़-रक्षकों के रहने का स्थान है। इसके सामने की ओर गोमुख का पवित्र कुण्ड है जिसमें ऊपर के जलाशयों से गुप्त जलधारा आती है। इस पोल के बाहर झाली बाव नामक तलाई है जो शायद महाराजा उदयसिंह की झाली रानी द्वारा बनवाई हुई है। इस दरवाजे के बाद का दूसरा दरवाजा है भैरूपोल । यह दरवाजा महाराणा कुम्भा ने भैरवदास के नाम से बनवाया था । जब मुजफ्फरशाह गुजराती से लड़ते हुए भैरवदास यहां मारा गया तो उसके स्मारक के रूप में इसका नाम भैरू पोल रख दिया गया। इसके आगे सुप्रसिद्ध राठोड़ वीर जयमल मेड़तिया की छत्री है। इस छत्री के पास ही जयमल के कुटुम्बी कल्ला राठोड़ की छत्री है। कहते हैं कि घायल जयमल कल्ला की पीठ पर चढ़ा और दोनों वीरों ने तलवार झाड़ते हुए वीर गति प्राप्त की। तीसरी हनुमान पोल है और चौथी गणेश पोल। गणेश पोल के एक ओर गणेशजी का छोटा-सा मन्दिर है । पांचवी जोड़ला पोल है और छटी लक्ष्मण पोल । लक्ष्मण पोल के पास लक्ष्मणजी की देहुरी बनी हुई है। सातवीं राम पोल है। पांड़ल पोल छोड़ कर बाकी सब दरवाजे महाराणा कुम्भा के बनवाये हुए हैं।

राम पोल के आगे एक प्राचीन पत्थर मिलता है जिस पर सिन्दूर लगा हुआ है। लोग इसे देवता की तरह पूजते हैं। इस

जगह रावत पत्ता सीसोदिया अकबर से लड़ता हुआ खेत रहा था। यहां से उत्तर में बाई ओर जाने वाली सड़क महाराणा सज्जनसिंह ने किले की प्रदित्तणा के लिए बनवाई थी। दक्षिण दिशा वाली सड़क पर चल कर हम तुलजा भवानी के मन्दिर के पास पहुँच जाते हैं। इसे सोलहवीं शताब्दी में बनवीर ने बनवाया था। उसके आगे एक छोटी-सी गढ़ी है इसे नौलखा भण्डार कहते हैं। यह भी बनवीर ने अपने लिए बनवाया था। इनके पास ही शृंगार-चौरी नामक एक भव्य प्रासाद है, यहां प्राचीन तक्षण कला के कई अच्छे नमूने मिलते हैं। इसके एक शिलालेख से मालूम होता है कि इसे सं. १५०५ में महाराणा कुम्भा के कोषाध्यक्ष वेलाक ने बनाया था। यह जैनियों के सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथजी का देवल था। इसके पश्चिमी द्वार पर अब पार्श्वनाथजी की और उत्तर द्वार पर एक दूसरी खण्डित जैन मूर्ति ही बची है। यह एक छोटा-सा दालान-सा है। लेकिन किले के मनोहर दृश्यों में से है। इसके आगे राजमहलों के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। ये प्राचीन महाराणाओं के महल थे जो अब ढ़ह गये हैं। कर्नल टॉड का कहना है कि यह महल महाराणा रायमल का है। महाराणा सज्जनसिंह ने इसकी मरम्मत करवाने का प्रयत्न किया था लेकिन उनकी असामयिक मृत्यु से मरम्मत का काम रुक गया। इन महलों के आंगन में देवजी का एक छोटा-सा देवालय है।

इस महल के आगे एक जैन मन्दिर आता है। इस मन्दिर की गुम्बद वाली छत पर तक्षण कला का काम है जो आबू के देलवाड़े के मन्दिर से मिलता-जुलता है। इनके पास महाराणा फतहसिंह का बनवाया हुआ फतह-प्रकाश नाम का महल है। यह महल नया ही बना हुआ है। दहेरियों के पास सड़क की पश्चिम दिशा में आदिवराह और कुम्भश्याम के मन्दिर हैं। इन्हें महाराणा कुम्भा ने बनवाये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्दिर देवा-

यतन नगरी नामक प्राचीन ग्राम की इमारतों के भग्नावशेष से बनवाये हुए हैं। कुम्भश्याम के द्वार पर एक पाषाण प्रतिमा है जो संभवतः महाराणा कुम्भा की होगी। इन मन्दिरों के पश्चिमी अलंग पर १२५×५० फुट के दो कुण्ड हैं। इन्हें घी बावड़ी और तेल बावड़ी कहते हैं। कहा जाता है कि जब महाराणा रायमल की पुत्री का विवाह अचलदास खींची के साथ हुआ तब ये घी और तेल के लिए बनवाये गये थे। लेकिन हो सकता है कि पहिले ये जलाशय रहे हों।

इसी सड़क पर आगे एक ऊंचा कीर्तिस्तंभ है। यह चित्तौड़ का एक देदीप्यमान स्मारक है। यह भारतवर्ष की मीनारों में एक अद्वितीय मीनार मानी जाती है। नीचे इसकी चौड़ाई ३० फीट है और ऊंचाई १३० फीट है। एक तो चित्तौड़ का किला ही काफी ऊंचा है, उस पर यह कीर्तिस्तंभ अपनी ऊंचाई से व्योमविहारी-सा बन गया है। इसके ऊपर चढ़ कर जब हम चारों ओर दृष्टि डालते हैं तो बड़ी दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई देते हैं। यह स्तंभ नौ मंजिला है। ऊपर चढ़ने के लिए घुमावदार जीना है जिसमें १५७ सीढ़ियां हैं। इसमें जगह-जगह ब्रह्मा, विष्णु, हरिहर त्रिमूर्ति, सावित्री, लक्ष्मीनारायण, महादेव आदि की सैकड़ों मूर्तियां बनी हुई हैं। ये मूर्तियां कला-कौशल के भी उत्तम नमूने हैं। लेकिन दुःख है कि मुसलमानों ने प्रायः सभी मूर्तियों को खण्डित कर दिया है। सं. १४९८ या १५०० में जब महाराणा कुम्भा ने मालवे के सुलतान मुहमद खिलजी पर विजय प्राप्त की तो इस विजय की स्मृति में यह जयस्तंभ बनवाया गया था। इसमें ९० लाख रुपये व्यय हुए थे। सं. १५०५ में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। स्तंभ के ऊपर की छत्री बिजली गिरने से गिर पड़ी थी। महाराणा स्वरूपसिंहजी ने उसे फिर से बनवाया लेकिन वह भव्यता अब छत्री में नहीं रही है।

स्तंभ के दक्षिण पश्चिम में महासतियों का बाड़ा है । यहां महाराणा और महाराणियों की अन्त्येष्टि क्रिया की जाती थी । आगे समाधीश्वर महादेव का मन्दिर है। कहा जाता है कि इस स्थान पर महाराणा लाखा की अन्त्येष्ठि क्रिया हुई थी । उसीकी स्मृति में राणा मोकलजी ने इसे बनवाया था। लेकिन ओझाजी का कहना है कि इस मन्दिर को मालवे के परमार राजा भोज ने बनवाया था। यहां शिवशंकर की विशाल पंचवक्र मूर्ति है और बड़ा शिवलिंग है। सं. १४८५ में महाराणा मोकल ने इसका जीर्णोद्धार करवाया था। मन्दिर के पास का मठ एक खण्डहर-सा रह गया है। आगे दक्षिण की ओर गोमुख आता है। यह जलाशय ढालू चट्टानों से कटा हुआ है और उसके ऊपर मन्दिर बने हुए हैं। यह स्थान बड़ा विचित्र है। तीन ओर बड़े वृक्ष और खंडहर हैं और जल की सतह तक पहुँचने के लिए चट्टानों को काट कर ही सीढ़ियां बनाई गई हैं। यहां का जल बड़ा निर्मल है । कहते हैं यहां से रानी पद्‌मिनी के महल तक एक सुरंग गई है जहां अलाउद्दीन खिलजी की चढ़ाई के समय जोहर की ज्वाला प्रज्वलित की गई थी। लेकिन यह दन्त कथा ही है।

दक्षिण की ओर कुछ आगे बढ़ जाने पर पत्ता जयमल की हवेलियों के खंडहर मिलते हैं। इनके पास एक छोटा-सा तालाब है जो जयमल तालाब के नाम से प्रसिद्ध है। इस तालाब के आगे पूर्व में हाथीकुण्ड है। पत्ता-जयमल की हवेलियों के आगे कालिका माता का मन्दिर है जिसे पांडवों का बनाया हुआ कहा जाता है । इस मन्दिर को मुसलमानों ने कई बार तोड़ा और समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार भी हुआ। इस मन्दिर के गुम्बजों की बनावट विचित्र और प्रभावोत्पादक है। इसके दरवाजे पर तथा अन्य जगहों पर भी सूर्य की मूर्तियां बनी हुई हैं । अतः अनुमान होता है कि यह पहिले सूर्य मन्दिर होगा । कालका के मन्दिर के

पास ही 'नवगजा' पीर का स्थान है। इसी सड़क पर बाये हाथ की ओर महारावल और रत्नसिंह और पद्मिनी के महल हैं। ये महल एक तालाब के बीचों-बीच बने हुए हैं। ये महल भारतवर्ष के बड़े पुराने महलों में से हैं। सं. १९३८ में महाराणा सज्जनसिंह ने इनकी मरम्मत करवाई थी जिससे इनकी सूरत बदल गई है। पास ही एक बड़ा मैदान है जो सेना की परेड के काम में आता था। गढ़ के दक्षिण छोर पर चतुरंग मोरी का प्राचीन तालाब है जहां से एक मुड़ती हुई 'भीमलत' कुण्ड के पास आती है। कहा जाता है कि यह कुण्ड भीम के पद-प्रहार से बना है। यहां थोड़ी दूरी पर किले की दीवारें आ जाती हैं और पहाड़ी समाप्त हो जाती है। इसके थोड़ी-सी ही दूरी पर एक छोटी-सी टेकड़ी है। कहा जाता है कि अकबर ने चित्तौड़ के घेरे के समय इसे बनवाने के लिए बहुत-सा पैसा खर्च करके मिट्टी-पत्थर डलवाये थे। यह टेकड़ी उसने तोपों के लिये बनवाई थी। यहां तोपें रख कर उसने किले की दीवार को तोड़ने की योजना बनाई थी। भीमलत के आगे उत्तर दिशा में समाधीश्वर महादेव का एक दूसरा मन्दिर है। इसके आगे निल-कंठ का शिवालय आता है। यह काफी पुराना मालूम होता है। इसके पास महाराणा कुँभा का बनाया हुआ सूरजपोल नामक द्वार है। इस दरवाजे से नीचे जाने का रास्ता है। इसके पास ही सलूम्बर के रावत सांईदास का चबूतरा है। यहीं सड़क के पास ७६ फीट ऊंचा सात खण्ड का एक और प्राचीन जैन स्तंभ है। यह स्तंभ विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में जैनियों के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथजी की स्मृति में बनाया गया था। इस स्तंभ के चारों ओर आदिनाथ की पांच-पांच फुट ऊंची विशाल दिगम्बर प्रतिमाए हैं। ८० हजार रुपये व्यय करके महाराणा फतहसिंहजी ने इस स्तंभ का जीर्णोद्धार करवाया है। इसके पास ही जैनियों

के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का मन्दिर है। यह मन्दिर आज कल टूटी-फूटी अवस्था में है।

रत्नेश्वर कुण्ड और महारावल रत्नसिंह के महल के पास से चलते रहते हैं तो किले की प्रदक्षिणा समाप्त हो जाती है। यहाँ पूर्व की ओर 'लाखोटा की बारी' नामक एक खिड़की है। रत्नेश्वर कुण्ड के पास ही हिंगोल आहाड़ा के महल हैं। रामपोल के पास कुक्कड़ेश्वर महादेव का मन्दिर और कुण्ड हैं जो प्राचीन काल के बने हुए हैं।

इस प्रकार किले के मुख्य-मुख्य स्थानों का वर्णन समाप्त होता है। लेकिन जब तक इस प्रसिद्ध गढ़ के प्राचीन इतिहास पर एक दृष्टि न डालें इसका वर्णन पूरा नहीं हो सकता। इस किले के साथ अनेक राजवंश एवं वीर पुरुषों का इतिहास जुड़ा हुआ है। उसके बिना हमारी प्रदक्षिणा अधूरी ही रहेगी अतः आइये इसके इतिहास पर संक्षेप में एक दृष्टि डालें।

यह किला चित्रांगद मौर्य ने ईसा की सातवीं शताब्दी में बनवाया था। प्रारंभ में इसका नाम चित्रकूट का दुर्ग था जो धीरे-धीरे चित्तौड़ हो गया। लेकिन अभी ऐसे प्रमाण नहीं मिले हैं जिससे इसके इस प्राचीन नाम की सत्यता प्रमाणित हो। हो सकता है कि यह केवल दन्तकथा हो। इस वंश के अन्तिम राजा मान के समय तक यह किला इसी वंश के आधीन रहा। सं. ७७० में गुहिलवंशी राजा बापा (कालभोज) ने यह किला ले लिया। गुहिलवंश के बीस उत्तराधिकारियों ने गुहिल से लगा कर शक्ति-कुमार तक इस किले पर अपना अधिकार रखा। फिर मालवा के परमार राजा मुन्ज ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और इसे जीत लिया। मुन्ज का भतीजा भोज चित्तौड़ में रहता था। उसने यहाँ एक

विष्णु का मन्दिर भी बनवाया था जो मोकलजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश के राजा यशोवर्मा (सं. ११९१-९२) को परास्त करके गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह ने किले पर अपना अधिकार जमाया। फिर गुहिलवंशी रावल सामन्तसिंह ने सोलंकियों को हरा कर सं. १२३३ के आस पास इस किले को फिर से ले लिया। सामन्तसिंह को किला लिये थोड़े ही दिन हुए थे कि जालोर के चौहान राजा कीर्तिपाल ने सामन्तसिंह को चित्तौड़ से निकाल दिया और अपना अधिकार जमा लिया। वह वहाँ बहुत समय तक राज्य करने नहीं पाया। सामन्तसिंह के भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजा की सहायता से कीर्तिपाल को हरा दिया और फिर से अपना अधिकार जमा लिया। कुमारसिंह के बाद १३० वर्ष तक चित्तौड़ गुहिल राजाओं के अधिकार में ही रहा।

रावल रत्नसिंह के राज्यकाल में सं. १३६० में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और जीत लिया। महारानी पद्मिनी रत्नसिंह की रानी थी। शीशे में महारानी पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दिखाने तथा राणा को कैद कर लेने की घटना इसी समय हुई। जब राणा कैद हो गये तो पद्मिनी को कहलाया गया कि यदि वे बादशाह के हरम में आने के लिए तैयार हों तो राजा को छोड़ा जा सकता है। यह प्रस्ताव मन्जूर किया गया और रानी ने कहा कि मैं अन्य राजपूत स्त्रियों के साथ पालकी में आऊंगी। सारे पुरुष हथियारों से लैस होकर पालकियों में बैठे और राणा को छुड़ा कर ले आये। यह ऐतिहासिक घटना इसी समय की है। जब अल्लाउद्दीन ने बाद में किले पर अपना कब्जा किया तो महारानी पद्मिनी ने जौहर कर लिया था। अल्लाउद्दीन खिलजी ने अपने पुत्र खिजरखाँ को यहां का हाकिम नियुक्त किया। खिजरखाँ यहां १० वर्ष तक रहा। अन्त में जब चित्तौड़ पर कब्जा बनाये रखना उसके लिए असंभव हो गया तब अलाउद्दीन ने उसे बुला लिया

और किला सोनगरे के चौहान मालदेव के सिपुर्द कर दिया। सन १३२५ तक किला मुसलमानों के कब्जे में रहा। इसके बाद राणा हंमीर ने चौहानों से किला छीन लिया। इसके बाद तो २०० वर्ष तक यह किला इस वंश के पास रहा। विक्रमादित्य (सन १५३१ से ३६ तक) के शासन काल में गुजरात के बादशाह बहादुर शाह ने दो बार आक्रमण कर किला ले लिया लेकिन उसे शीघ्र ही इसे छोड़ कर भागना पड़ा। फिर गुहिलों का अधिकार हो गया और प्रायः ३० वर्ष तक रहा। सन १५६७ में बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और अपना अधिकार जमा लिया। उस समय महाराणा उदयसिंह राजा थे। उनके पुत्र महाराणा प्रताप ने अकबर से लड़ कर बहुत से स्थान ले लिये लेकिन चित्तौड़ न ले सके। बादशाह जहांगीर ने महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह को किला लौटा दिया लेकिन शर्त यह रखी कि वे उसकी मरम्मत न करवायेंगे। इस शर्त के विरुद्ध महाराणा जगतसिंह ने जब इसकी मरम्मत करवाना शुरू किया तो शाहजहां ने सादुल्ला खां को भेजा और मरम्मत किये हुए स्थानों को तुड़वा दिया। शाहजहां के बाद औरंगजेब ने महाराणा राजसिंह से लड़ाई छेड़ी और १६८० में किले पर कब्जा कर लिया। लेकिन दूसरे ही वर्ष उसने महाराणा जयसिंह से संधि करके उन्हें किला लौटा दिया। तब से अब तक वह उदयपुर के महाराणाओं के ही आधीन चला आ रहा है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया है कि चितौड़ पर किन-किन राजवंशों का कितने-कितने समय तक आधिपत्य रहा। आइयें, अब उसकी चढ़ाइयों का इतिहास भी देख लें। चितौड़ पर पहली चढ़ाई संभवतः ६३१ ई. के आस-पास हुई। यह चढ़ाई आलोर (सिन्ध) के राजा चच्च ने की थी। उस समय मौर्यवंशी राजा माहेश्वर राज्य कर रहा था। इसके बाद सिन्ध के हाकिम जुन्नेद

और बगदाद के खलीफा अलमायू की चढ़ाइयों के भी हाल मिलते हैं लेकिन इतिहासकार इनकी सत्यता पर विश्वास नहीं करते ; क्योंकि इनके संबंध में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। इसके बाद जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है शक्तिकुमार के समय मालवे के राजा मुंज ने चितौड़ पर चढ़ाई की और उसे अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद रावल सामन्तसिंह के शासनकाल में (सं. ११७१—७६) जालोर के राजा कीर्तिपाल ने और सन १२४८ ई. में जेत्रसिंह के समय दिल्ली के सुलतान नसीरुद्दीन महमूद ने चितौड़ पर चढ़ाई की।

राजा रत्नसिंह के समय चितौड़पर पहिली बार बड़ी चढ़ाई हुई। यह चढ़ाई उसने महाराणा रत्नसिंह की अनुपम सुन्दरी महारानी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए की थी। अलाउद्दीन अपने दल के साथ चितौड़ पर चढ़ आया। भयंकर युद्ध होने लगा। राजपूत दिल खोल कर यवन सेना का संहार करने लगे। कई दिन तक लड़ाई होती रही। अब अलाउद्दीन ने अनुभव किया कि इस प्रकार दाल गलने वाली नहीं है। उसने एक दूत को महाराणा के पास भेजा और कहा कि यदि रावलजी मेरा सत्कार करें और सिंहल से लाये हुए रत्न देदें तो मैं लौट जाऊँगा। महाराणा भी लड़ाई से तंग आगये थे अतः उन्होंने यह प्रस्ताव मन्जूर कर लिया। अलाउद्दीन को किले में बुला कर उसका सत्कार किया गया और उसे रत्न देकर लौटा दिया। जाते समय महाराणा उसको पहुँचाने के लिए किले के द्वार से भी आगे निकल गये। यहां उसके इशारे से मुसलमानों ने महाराणा को कैद कर लिया। उसने किले में संदेश भिजवाया कि जब तक पद्मिनी न भेज दी जायगी राणा नहीं छूट सकते। अलाउद्दीन की इस धूर्तता से किले में हाहाकार मच गया। लेकिन पद्मिनी ने एक उपाय ढूंढ निकाला। उसने दूत से खबर भिजवादी कि "मैं आने के लिए

तैयार हूँ लेकिन पहिले चितौड़ से घेरा उठवा लिया जाना चाहिए। जब घेरा उठवा लिया जायगा तब मैं आऊँगी। लेकिन मेरे साथ मेरी सहेलियाँ भी रहेंगी। मैं अकेली नहीं आऊँगी।"

अलाउद्दीन हर्षविभोर होगया। उसने घेरा उठवा लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल पालकियों की एक लम्बी कतार शाही डेरों के पास पहुँची। गोरा और बादल नंगी तलवारें लिये हुए पालकियों के साथ थे। जब डोलियाँ शाही डेरे के पास पहुँच गई तो गोरा ने कहा "अब हमारे राजा को मुक्त कर दीजिये।" अलाउद्दीन ने कहा—"मैं काजी को बुला रहा हूँ। निकाह होते ही महाराणा को छोड़ दूंगा।" गोरा ने कहा—"विवाह से पहिले पद्मिनी महाराणा से अन्तिम भेंट करना चाहती हैं।" अलाउद्दीन ने बात मानली। दो घड़ी के लिए महाराणा मुक्त कर दिये गये। महाराणा पालकी में बैठ कर किले की ओर भेज दिये गये और राजपूत पालकियों में से निकल कर लड़ने के लिए तैयार होगये। अब अलाउद्दीन घबराया। वह चिल्ला उठा—"दगा! दगा!" लड़ाई प्रारम्भ होगई। गोरा-बादल ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया। अलाउद्दीन को विवश होकर लौट जाना पड़ा।

वह लौटा तो लेकिन पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए वह अब भी व्याकुल था। उसने दुबारा सेना का संगठन किया और विशाल सेना के साथ सन् १३०३ में चितौड़ पर चढ़ आया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। लोहे से लोहा बजने लगा। राजपूतों ने प्राणों की बाजी लगाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे राजपूत धराशायी होते गये और अन्त में महाराणा ने भी वीरगति प्राप्त की। उनके मरते ही सीसोद के राणा लक्ष्मणसिंह ने सेनापतित्व का भार अपने ऊपर ले लिया। राणा लक्ष्मणसिंह ने भी बड़ी वीरता से युद्ध किया। उनके आठ पुत्रों में से सात लड़ते-लड़ते मर गये।

अब राजपूतों ने विजय की आशा न देख कर केशरिया बाना पहिना और किले के बाहर निकल पड़े। उधर राजपूतनियों ने अपने पतिव्रत-धर्म की रक्षा के लिए जौहर करने का निश्चय किया।

राजमहल के पास एक सुरंग थी। उसमें लकड़ियां भर कर आग लगादी गई। अब क्षत्राणियों के बलिदान का समय आया। देखते-देखते सुरंग के आस-पास क्षत्राणियों की भीड़ लग गई। उनके सगे सम्बन्धी भी उनको विदा देने के लिए आगये थे। सब ने अपने दिल कड़े करके एक दूसरे को विदा दी। दृष्य बड़ा ही रोमांचकारी था। आज भाई बहिन से, पति पत्नी से और माता पुत्र से विदा मांग रहे थे। सब की आँखों में आँसू थे लेकिन उन आँसूओं में न कातरता थी न उदासी। एक जबरदस्त निश्चय से उनके चेहरे दमक रहे थे। राजपूत ललनाओं ने अपने प्रियजनों से विदा मांगी और अग्नि की पूजा करके उस पर फूल चढ़ाये। फिर वे एक के बाद एक उसमें प्रवेश करने लगीं। सब से आगे पद्मिनी थीं और उसके पीछे-पीछे अन्य राजपूत महिलाएं। देखते ही देखते उन्होंने अपने को ज्वालाओं के अर्पण कर दिया।

राणा तथा अन्य राजपूत केशरिया बाना पहन कर अपूर्व वीरता के साथ लड़े और रणक्षेत्र में सदैव के लिये सो गये। अला-उद्दीन अन्दर घुसा। उसने किले पर अधिकार कर लिया लेकिन वहां जलती हुई चिता के अतिरिक्त क्या था? यह है चितौड़ का पहिला शाका। राजपूत वीरांगनाओं के बलिदान से आज भी चितौड़ का मस्तक ऊँचा है। उसके एक-एक कण में उसी त्याग और उत्सर्ग के दर्शन होते हैं।

१३२५ ई. में मुहम्मद तुगलक ने मालदेव के पुत्र जैसा की प्रार्थना पर उसकी सहायता से आक्रमण किया। उस समय महा-

राणा हंमीर राज्य कर रहे थे। यह चढ़ाई असफल हुई। मुसलमान हार गये और निराश होकर लौट गये। इसी प्रकार महाराणा हमीर के पुत्र चेत्रसिंह के समय मालवे के सुलतान अमीशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। सुलतान भी बुरी तरह हारा और उसे भागना पड़ा। इसके बाद महाराणा कुम्भकर्ण के समय मालवा और गुजरात के सुल्तानों ने हमले किये लेकिन उन लोगों को भी सफलता नहीं मिली। सन् १४४६ में सुल्तान महमूद ने अपने सेनापति ताजखां को चित्तौड़ पर चढ़ाई करने भेजा। उसे इस काम में जब कोई सफलता नहीं मिली तो उसने स्वयं चढ़ाई की और महाराणा से कुछ रुपया लेकर मांडू लौट गया। महाराणा ने अपनी तैयारियां की और ताजखां पर हमला किया। भारी लड़ाई के बाद ताजखां हार कर भाग गया।

सन् १४५५ ई. में गुजरात के सुलतान कुतुबशाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की लेकिन उसे कोई सफलता नहीं मिली। उसने मालवा के सुलतान से संधि की और दोनों ने एक साथ चढ़ाई की। प्रारम्भ में सुलतानों की विजय होती रही लेकिन अन्त में दोनों सुलतान हार कर भाग गये। कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति में इसी विजय का वर्णन है। इसी विजय के उपलक्ष में वह बनाया गया था। सन् १४६८ ई. में उदयसिंह प्रथम ने अपने पिता महाराणा कुम्भकर्ण को मार दिया और राजा बन गया। इस पर सामन्त बिगड़े, उन्होंने उदयसिंह के छोटे भाई रायमल को शासन का भार संभालने के लिए निमन्त्रित किया। सन १४७३ ई. में रायमल ने चित्तौड़ पर कब्जा कर लिया। उदयसिंह ने मांडू के सुलतान से सहायता मांगी। सुलतान ने आक्रमण किया लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। बेचारा असफल होकर लौट गया। पिता की इस हार का बदला लेने के लिए नासिरुद्दीन

ने १५०३ में चित्तौड़ पर हमला किया लेकिन राणा से कुछ धन लेकर लौट गया।

सन् १५३२ में जब गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने रायसेन के किले पर आक्रमण किया तो वहां के राजा लक्ष्मण सेन के भतीजे भूपतराय ने महाराणा से मदद मांगी। महाराणा ने मदद की। इस पर नाराज होकर उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। सुलतान का सेनापति रूमीखां तोपों के काम में बड़ा होशियार था। बड़ी-बड़ी तोपों से उसने किले को उड़ाने की योजना बनाई। राणा की माता कर्मवती ने रुपया और हाथी-घोड़े देकर संधि करली। सुलतान लौट गया। लेकिन रायसेन पर कब्जा कर लेने के बाद उसने चित्तौड़ जैसे बड़े किले को भी जीत लेने का विचार किया अतः उसने दुबारा चढ़ाई की। अपने सेनापति रूमीखां से कहा कि विजय के बाद उसे ही वहां का हाकिम बना दिया जायगा। यह बहुत बड़ा आक्रमण था। महाराणा विक्रमादित्य ने लड़ाई की तैयारी की लेकिन कुछ सरदार उनसे असन्तुष्ट थे। महाराणा स्वयं युद्ध क्षेत्र में लड़ाई के लिए पहुंचे लेकिन बहादुरशाह की अपार सेना के सामने ज्यादा समय तक टिकना असम्भव था। बहादुरशाह तेजी के साथ आगे बढ़ता ही गया।

यह समाचार जब महाराणा सांगा की सबसे छोटी पत्नी महाराणी करुणावती को मालूम हुआ तो उन्होंने सैन्य संचालन का काम अपने हाथ में लिया और उन सब राजपूतों को उन्होंने लड़ाई के लिए आमन्त्रित किया जो महाराणा से असन्तुष्ट होकर तटस्थ थे। महाराणी ने राजपूतों को ललकारा, बोली—"जब देश पर संकट हो उस समय यदि हम अपने आपसी झगड़ों को लेकर बैठे रहेंगे तो हमारा सर्वनाश हो जायगा। राजपूतों का इतिहास वीरता का इतिहास है, देश प्रेम का इतिहास है, त्याग और बलिदान का इतिहास है। अपने मतभेदों को लेकर क्या आप उस पर कलंक

लगाना चाहते हैं ?" महाराणी की ललकार में जोश था। राजपूतों के मर्मस्थान को स्पर्श करने की शक्ति थी। भला राजपूत कैसे चुप रह सकते थे ? सब लड़ाई के लिए तैयार होकर आ गये और स्वदेश की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व चढ़ा देने के लिए तैयार हो गये। कई दिनों तक वे उत्साह के साथ लड़ते रहे। महीनों तक लड़ाई होती रही। एक दिन बहादुरशाह की सेना ने मौका पाकर किले की दीवार तोड़ दी और भग्न भाग में से आगे बढ़ने का प्रयत्न करने लगे। राजपूत उनका रास्ता रोक कर खड़े हो गये। राजपूतों की संख्या कम थी। धीरे-धीरे एक-एक दो-दो करके वे मरने लगे। शाही सेना को रोकना असम्भवसा हो गया। सरदार निराश होने लगे और कहने लगे कि अब लड़ना व्यर्थ है। यह देख कर महा-रानी कर्मवती ने कहा—"यह समय आपकी परीक्षा का है। इसी समय तो आपको अपनी वीरता का परिचय देना है। क्या आप अपने ज्वलन्त इतिहास को भूल गये ? मैं मानती हूँ कि अब भी राजपूतों में अपार शक्ति है। एक एक राजपूत सैकड़ों यवनों का मुकाबला कर सकता है। भला वे वेतन भोगी सैनिक आजादी के दीवानों का कब तक मुकाबला कर सकेंगे। आप अपनी शक्ति को पहिचानिये और भूखे सिंह की तरह शत्रु-दल पर टूट पड़िये। मुझे विश्वास है कि आपकी विजय निश्चित है।"

राजपूतों में नये जीवन का संचार हो गया। वे फिर उत्साह के साथ लड़ने लगे। इधर महाराणी ने अपनी रक्षा के लिए हुमायू के पास राखी भेजी और भाई के नाते उससे सहायता मांगी। लेकिन हुमायू समय पर न आ सका। महाराणी ने जौहर की तैयार करके अपने देश और धर्म के गौरव को अक्षुण्य बनाये रखने का संकल्प किया। सरदारों ने राय दी कि उदयसिंह को किसी सुरक्षित स्थान में भेजकर मरण त्यौहार की तैयारी करना चाहिए। उदय-सिंह उस समय ५ वर्ष का था। तोतली बोली में बोला—"माँ, मुझे

तुम्हाले साथ मलने दो।" रानी का दिल भर आया बोली—
"वेटा, तुम्हें राजा बनना है। तुम्हें चित्तौड़ का उद्धार करना है।
प्राण देकर भी मातृभूमि का उद्धार करना।" रानी ने ये शब्द दिल
कड़ा करके कहे लेकिन बेटे से बिछड़ते समय उनकी दशा बड़ी
ही विचित्र हो रही थी। उन्होंने बालक को गले से लगा लिया
और रोने लगी। उदयसिंह को बूंदी भेज दिया और जौहर की
तैयारियाँ शुरु हुई। पद्मिनी की भांति इस बार महाराणी कर्मवती
सबसे आगे थी। अग्नि की पूजा करके वे चिता में कूद पड़ीं और
अनेकों राजपूत रमणियों ने उनका अनुगमन किया। चिता धाय
धाय करके जलने लगी और चित्तौड़ स्वधर्म की रक्षा के लिए अपनी
बेटियों के रुप और यौवन की आहुति चढ़ा कर फूला न समाया।

राजपूतानियां जौहर कर चुकी थीं और राजकुमार बूंदी भेजे
जा चुके थे अतः राजपूत निश्चिन्त होकर लड़ने लगे। उन्होंने बड़ी
वीरता से युद्ध किया और एक के बाद एक रण क्षेत्र में सदा के
लिए सो गये। बहादुरशाह ने किले पर अधिकार कर लिया।
वह खुशी मना ही रहा था कि उसे हुमायूं के आने की खबर मिली।
अतः उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। मन्दसौर के पास
दोनों सेनाओं में लोमहर्षक युद्ध हुआ जिसमें बहादुरशाह की
हार हुई। वह मांडू की ओर भाग गया। हुमायूं ने उसका
पीछा किया। इधर राजपूतों ने एकत्र होकर किले के मुट्ठीभर मुसल-
मानों पर आक्रमण किया और उन्हे मार भागाया। चित्तौड़ पर
फिर राजपूतों का कब्जा हो गया। महाराणा विक्रमादित्य फिर
शासन करने लगे। यह चढ़ाई दूसरे शाके के नाम से प्रसिद्ध है।

महाराणा विक्रमादित्य के बाद उदयसिंह गद्दी पर बैठे। उनके
शासन काल में दो चढ़ाइयाँ हुईं। सन १५४३ में जब शेरशाह
सूर मारवाड़ में राव मालदेव पर विजय प्राप्त करके चितौड़ की
तरफ आया तो महाराणा ने उसे किले की चाबियां सौंप दी।

शेरशाह अपने एक कर्मचारी को चित्तौड़ छोड़ कर लौट गया। लेकिन दूसरी चढ़ाई बडी जबरदस्त हुई। यह चढ़ाई सन १५६७ में अकबर ने की। महाराणा पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने उसके शत्रु मालवा के स्वामी बाज बहादुर को अपने यहां शरण दी। अकबर का यह आरोप एक बहाना मात्र था। वास्तव में वह सारे राजपूतों को हरा कर अपने आधीन करना चाहता था। आक्रमण की खबर पाकर सारे सरदार आ गये। सरदारों की सलाह से महाराणा उदयसिंह पहाड़ों में चले गये। जयमल और पत्ता की अध्यक्षता में राजपूतों ने लड़ाई शुरू की। बादशाह ने सावात बनवाने और सुरंगें खुदवाने का काम शुरू किया। सावात ऊपर से ढके हुए रास्ते को कहते है जिसके भीतर से चल कर सेना शत्रु के किले तक पहुँचती है। सावात में किले वालों की मार से रक्षा होती है। लेकिन इस काम से काफ़ी लोग किले वालों के हमले से मारे जाते थे। बड़ी मुश्किल से दो सुरंगें बनाई गईं और उन्होंने किले के दो बुर्ज उड़ा दिये। खाने-पीने की सुध छोड़ कर बड़ी देर तक दोनों सेनाएँ लड़ती रहीं। एक दिन जब जयमल किले की मरम्मत करवा रहे थे बादशाह ने गोली चलाई। निशाना ठीक बैठा। जयमल का पैर जख्मी हो गया। भीषण संग्राम होता रहा। अन्त में किले की भोजन सामग्री समाप्त हो गई। जौहर की अग्नि प्रज्वलित हुई। रापूजत रमणियाँ अपने बच्चों के साथ आग में कूद पड़ीं और रापूजत केशरिया बाना पहन कर मरने के लिए तैयार हो गये। उन्होंने किले के दरवाजे खोल दिये और लड़ते-लड़ते मर गये। बहुत से सरदार मारे गये। बादशाह ने किले पर अधिकार कर लिया और कत्ले आम का हुक्म दे दिया। बहुत से आदमी मारे गये। बादशाह जीत तो गया लेकिन जयमल, पत्ता की वीरता का उसके ऊपर बड़ा असर हुआ। उसने उनकी मूर्तियाँ बनवाकर दिल्ली के किले के द्वार पर

खड़ी करवाई। यह चौथी बड़ी चढ़ाई है। इतनी बड़ी चढ़ाई पहिले कभी नहीं हुई थी। एक ओर दिल्ली का बादशाह अकबर था जो इतिहास में 'महान' के नाम से मशहूर है। उसके पास विशाल सेना थी और दूसरी ओर गिने हुए राजपूत वीर। लेकिन राजपूतों ने जिस वीरता का परिचय दिया उसकी स्वयं अकबर ने प्रशंसा की इससे बढ़ कर उनकी वीरता का और क्या प्रमाण हो सकता है। यह चित्तौड़ के तीसरे शाके के नाम से प्रसिद्ध है।

किले पर बादशाह का कब्जा हो गया। उदयसिंह के पुत्र महाराणा प्रताप अकबर से लड़ते रहे लेकिन वे किले पर अपना अधिकार नहीं जमा सके। सन १६१५ में जहांगीर ने महाराणा उदयसिंह को इस शर्त पर किला लौटाया कि वे उसकी मरम्मत न करवायेंगे। लेकिन उनके पौत्र जगतसिंह ने संधि भंग की। अतः शाहजहां ने सन १६५३ में अपनी सेना भेजी और किले की मरम्मत की हुई दीवारें तुड़वा दीं। महाराणा राजसिंह के समय औरंगजेब ने उनसे लड़ाई की और सन १६८० ई. में किले पर कब्जा कर लिया। लेकिन सन १६८१ में ही जयसिंह से उसने संधि करली और किला लौटा दिया। औरंगजेब का यह आक्रमण अन्तिम था। उसके बाद चित्तौड़ पर किसी ने आक्रमण नहीं किया। महाराणा भीमसिंह के समय मरहठों ने चित्तौड़ को अवश्य घेर लिया था और उस पर गोलियाँ चलाई थीं लेकिन थोड़े दिन बाद ही मामला ठंडा हो गया। मरहठा सेनापति कुछ रुपये लेकर चला गया।

इस प्रकार चित्तौड़ का इतिहास भारतवर्ष के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। उसका इतिहास किसी भी आदमी को अपनी प्रभा से चकाचौंध कर देता है। आज तो वह प्राचीन वीरता और गौरव की समाधि है लेकिन यह समाधि कितनी कीमती है! कितनी चमकती हुई!!

पृथ्वीराज चौहान

महाराजा पृथ्वीराज उस चौहान वंश के थे जो आज से १००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष का अत्यन्त प्रभावशाली वंश था। कहा जाता है कि चौहान अग्निवंशीय क्षत्रिय हैं। इसके मूल पुरुष की उत्पत्ति राक्षसों का नाश करने के लिए वशिष्टजी के अग्निकुण्ड से हुई थी। चन्दवरदाई ने अपने 'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है कि चौहान वंश के मूल पुरुष के बाद १७३ वीं पीढ़ी में बीसलदेव हुए। बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव और सारंगदेव के आनाराज हुए। अजमेर का आनासागर इन्हीं आनाराज का बनवाया हुआ है। आनाराज के पुत्र जयसिंह और जयसिंह के अर्णोराज हुए। ये अर्णोराज हमारे चरित्र नायक महाराजा पृथ्वीराज के पितामह थे। महाराजा पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर था। महाराजा सोमेश्वर अपने काल के बड़े प्रतापी राजाओं में थे। उनकी राजधानी अजमेर थी। उनकी वीरता पर प्रसन्न होकर दिल्ली के राजा अनंगपाल ने अपनी कन्या कमलावती का विवाह उनके साथ किया। इन्हीं महारानी कमला के गर्भ से वीरशिरोमणि महाराज पृथ्वीराज का जन्म वैशाख बदी २ सं. १११५ में हुआ।

'पृथ्वीराज रासो' ही एक ऐसा ग्रंथ है जिससे महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में विशेष बातें ज्ञात होती हैं। रासो के रचयिता हिन्दी के प्रथम कवि चन्दवरदाई हैं। चन्दवरदाई महाराज पृथ्वीराज के दरबारी कवि और मित्र थे। रासो में उनकी बाल्यावस्था के बारे में कोई विशेष बात नहीं लिखी है। वह वीरता का युग था। अतः पृथ्वीराज को कोई पुस्तकी शिक्षा नहीं दी गई। शारी-

रिक शिक्षा पर ही जोर दिया गया। उन्हें घुड़सवारी, धनुर्विद्या, शस्त्र-संचालन और युद्ध विद्या सिखाई गई। वे कुशाग्र बुद्धि, चतुर और वीर थे अतः १३ वर्ष की अवस्था में ही युद्ध विद्या के पण्डित बन गये। भाला चलाने और शब्द भेदी बाण मारने में तो वे अद्वितीय थे

कहावत प्रसिद्ध है कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। बाल्यावस्था में ही उनकी वीरता चमक रही थी। पिता ने राज्य के कार्यों में उन्हें अपने साथ रखना प्रारंभ कर दिया। मण्डोवर के तत्कालीन राजा जब दिल्ली आये तो उन्होंने पृथ्वीराज को देखा। उनके रूप और गुण पर वे मोहित हो गये। बोले—१६ वर्ष की अवस्था में मैं अपनी कन्या का विवाह पृथ्वीराज के साथ करूंगा। जब पृथ्वीराज १६ वर्ष के हुए तो नाहरराय ने अपना विचार बदल दिया। महाराजा सोमेश्वर को यह बात अपमान जनक लगी। उन्होंने नाहरराय को समझाया, लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। महाराज ने पृथ्वीराज को सेना सहित युद्ध करने के लिए भेजा। नाहरराय ने अपने सेनापति पर्वतराय के साथ सेना भेजी। पहिले ही मुकाबले में पर्वतराय मार डाला गया। चार दिन तक युद्ध हुआ और अन्त में नाहरराय युद्ध भूमि से भाग निकला। सामन्तों की राय लेकर उसने अपनी पुत्री से पृथ्वीराज का विवाह कर दिया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि वह युग वीरता का ही युग था। भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राजा थे। ये राजा छोटी-छोटी-सी बात पर झगड़ पड़ते थे और परिणाम स्वरूप युद्ध अनिवार्य हो जाता था। महाराजा सोमेश्वर युद्ध की विनाशकारिता को जानते थे अतः वे चाहते थे कि जहां तक युद्धों को बचाया जा सके बचाना चाहिए। वे अपने विपक्षी को पहिले समझाने का

प्रयत्न करते थे जब उसका कोई परिणाम नहीं निकलता तभी वे युद्ध के लिए तैयार होते थे। मेवात उन दिनों मुद्गलराय के अधीन था। मुद्गलराय महाराजा सोमेश्वर को नियत कर दिया करते थे। मुद्गलराय यद्यपि मेवात के स्वतंत्र शासक थे। तथापि महाराजा सोमेश्वर के अधीन थे। कुछ समय बाद उन्होंने कर देना बन्द कर दिया। अपनी नीति के अनुसार महाराजा सोमेश्वर ने उनको समझाया लेकिन जब वे नहीं समझे तो युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। वे सेना लेकर मेवात की सीमा पर जा पहुंचे। एक बार फिर उन्होंने अपने दूत भेज कर मुद्गलराय को समझाने का प्रयत्न किया लेकिन उसने इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। अब युद्ध अनिवार्य हो गया। महाराजने अजमेर पत्र लिखा और पृथ्वीराज को युद्ध की सूचना देकर बुलवाया। पिता का आदेश पाते ही पृथ्वीराज तैयार हुए और रातों रात मेवात की सीमा पर पहुंच गए। पिताजी अपनी सेना के साथ प्रगाढ़ निंद्रा में मग्न थे। पृथ्वीराज ने उनको जगाना उचित न समझा। अपनी सेना के साथ वे मेवातियों पर टूट पड़े। मेवातियों ने मुकाबला किया लेकिन पृथ्वीराज की वीरता के सामने उनकी एक न चली। थोड़ी ही देर में भाग निकले। मुद्गलराय कैद कर लिये गये। प्रातः होने तक उन्होंने मेवात को विजय कर लिया और पिता के पास लौटे। पिताजी उनकी वीरता से चकित हो गये। प्रसन्न होकर उन्हें गले लगा लिया।

ऐतिहासिक विद्वानों का कथन है कि केवल धर्म प्रचार एवं द्रव्य लोभ से प्रेरित होकर ही मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था लेकिन 'पृथ्वीराज रासो' में इसका दूसरा ही कारण लिखा है। रासो के अनुसार गोरी का चचेरा भाई मीर-हुसेन चित्ररेखा नामक वेश्या से प्रेम रखता था। गोरी ने उसे इसके लिए काफी डराया धमकाया। इस पर मौका पाते ही मीर-

हुसेन गजनी से भाग निकला। उसके साथ वह वेश्या भी थी। दोनों ही पृथ्वीराज की शरण में आये। उन्होंने दीनतापूर्वक शरण देने की प्रार्थना की। पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों से परामर्श किया और सबकी राय से उसे आश्रय दे दिया। जब गोरी के पास यह समाचार पहुंचा तो उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने अरबखाँ नामक दूत को दो पत्र देकर हिन्दुस्तान भेजा। अरबखां ने पहिले मीरहुसेन को पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि यदि तुम चित्ररेखा को वापिस करके अपने अपराध के लिए क्षमा माँगो तो मैं तुम्हें क्षमा कर दूंगा और तुम गजनी में रह सकोगे। मीरहुसेन ने दोनों बातों से इन्कार कर दिया। उसके इन्कार कर देने पर अरबखाँ ने पृथ्वीराज से भेंट की और पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि 'मीरहुसेन को अपने राज्य से निकाल दीजिए अन्यथा मैं आपके ऊपर चढ़ाई कर दूंगा।' पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों से फिर परामर्श किया और उन लोगों ने अपने निर्णय पर दृढ़ रहना ही पसन्द किया।

अरबखां निराश होकर गजनी लौटा और गोरी को सारा हाल कह सुनाया। गोरी ने भी अपने सरदारों से राय ली। सरदारों ने कहा—"भारतवर्ष एक धनी देश है उस पर आक्रमण करके हमें असंख्य धन तो मिलेगा ही हम इस्लाम का प्रचार भी वहां कर सकेंगे। युद्ध के लिए इससे ज्यादा उपयुक्त अवसर और कौनसा मिलेगा।" गोरी इस राय से बड़ा खुश हुआ। उसने लड़ाई की तैयारी प्रारम्भ कर दी। पृथ्वीराज को भी यह खबर मिल गई। पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों को बुलाया और यह तय हुआ कि गोरी को यहां तक आने का मौका न दिया जाय और उसे अपनी सीमा पर ही रोक कर युद्ध किया जाय। जब गोरी के आने की खबर मिली पृथ्वीराज अपनी सेना के साथ आगे बढ़े। मीरहुसेन भी अपनी थोड़ी-

सी सेना के साथ पृथ्वीराज के साथ हो गया। उधर यह खबर गोरी को मिली कि पृथ्वीराज अपनी सेना के साथ उसे रोकने के लिए आ रहा है तो उसने जल्दी-जल्दी चलना प्रारम्भ किया। सारुण्डा नामक स्थान पर दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। गोरी का सेनापति तातारखां था उसके नेतृत्व में सात हजार सैनिक थे। लड़ाई प्रारम्भ हुई। बडी भयंकर लड़ाई के बाद तातारखां मार डाला गया और उसके पांच हजार सैनिक भी युद्ध की ज्वाला में भस्म हो गये। इधर मीर हुसेन ने भी वीर गति प्राप्त की। तातारखाँ के बाद खुरासान आगे बढ़ा। चामुण्डराय ने उसका मुकाबला किया। थोड़ी देर तक भयंकर युद्ध हुआ अन्त में वह भी मारा गया। जब खुरासान मार डाला गया तो पृथ्वीराज ने बची हुई सेना पर आक्रमण किया। गोरी की सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। गोरी ने यह देख कर भागती हुई सेना को रोका और वह उसको युद्ध के लिए एकत्र करने लगा। इतने में ही पृथ्वीराज सेना का पीछा करते हुए पहुंच गये और उन्होने उसे घेर लिया। गोरी ने युद्ध किया लेकिन पकड़ लिया गया। पृथ्वीराज उसे अपनी राजधानी ले आये और पांच दिनों तक उन्होंने उसे बड़े आदर के साथ अपने पास रखा। छठे दिन जब उसने प्रतिज्ञा की कि अब वह कभी आक्रमण करने का इरादा नहीं करेगा तो उसे छोड़ दिया गया।

चन्द्रावती के राजा उन दिनों सलख थे। उनकी एक कन्या थी–इच्छनकुमारी। इच्छनकुमारी सौंदर्य और गुण में अद्वितीय थी। गुजरात का राजा भीमदेव भोलाराय उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया और उसने राजा सलख को लिखा कि इच्छनकुमारी का विवाह उसके साथ कर दिया जाय। राजा को पत्र की भाषा बड़ी अपमान जनक लगी। उसने अपने क्रोध को दबा कर उत्तर दिया कि विवाह की बातचीत पृथ्वीराज के साथ तय हो चुकी है अतः

वे असमर्थ हैं। दूत के लौटते ही राजा सलख ने सारी बातें महाराजा सोमेश्वर पर प्रकट की। पृथ्वीराज को भी सब बातें मालूम हुई और वे युद्ध की तैयारी करने लगे। इधर जब भीमदेव ने यह उत्तर देखा तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने लड़ाई करके जबरदस्ती इच्छनकुमारी पर अधिकार करने का विचार किया। उसने महाराज पृथ्वीराज को लिखा कि राजा सलख उनका शत्रु है वे उसका सारा घमण्ड चूर-चूर करने का इरादा कर चुके है अतः पृथ्वीराज इस मामले में न पड़ें।

राजा सलख भी लड़ाई की तैयारी कर रहे थे। पृथ्वीराज ने अपनी सेना के तीन भाग किये। पहिले भाग को पिताजी के पास अजमेर भेजा, दूसरे को देहली में छोड़ा और तीसरे भाग को लेकर रवाना हुए। वे चल ही रहे थे कि एक ब्राह्मण ने उन्हें इच्छनकुमारी का पत्र दिया। पत्र में लिखा था— "राजा भीमदेव पिताजी के राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए तूफान की तरह बढ़ा आ रहा है। मैंने आपसे ही विवाह करने का निश्चय किया है अतः जितनी जल्दी हो सके सेना सहित आइये। यदि आपके आने में विलम्ब हुआ तो मैं छुरी मार कर आत्महत्या कर लूंगी। पृथ्वीराज के क्रोध को इस पत्र ने और बढ़ा दिया वे अपनी फौज के साथ विद्युत वेग से अचलगढ़ की ओर बढ़े। इच्छनकुमारी वहीं थी और राजा सलख सेना लेकर भीमदेव से लड़ने के लिए रवाना हो गये थे। अचलगढ़ में जैतसी था। उसने अपने सरदारों के साथ पृथ्वीराज का स्वागत किया और इच्छनकुमारी का विवाह पृथ्वीराज के साथ कर दिया। जैतसी ने बहुत-सा ज़ेवर और जवाहरात देकर पृथ्वीराज को विदा कर दिया।

आबू के मैदान में राजा सलख और भीमदेव की सेना में मुठभेड़ हो रही थी। महाराज सोमेश्वर भी वहाँ पहुंच गये।

दूने उत्साह के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। परमारों और चौहानों ने गुजराती सैनिकों को गाजर-मूली की तरह काटना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन भीमदेव की सेना में राजा सलख और महाराज सोमेश्वर की सम्मिलित सेना से भी ज्यादा सैनिक थे। यदि परमार और चौहान सैनिक बहादुर न होते तो शायद गुजराती सैनिक उन्हें कभी के हरा देते। युद्ध करते-करते राजा सलख गुजराती सैनिकों के बीच चले गये। अपने चारों ओर शत्रुओं को देख कर भी वे हतोत्साह नहीं हुए और बराबर लड़ते रहे। लेकिन गुजरातियों की अपार सेना के बीच कहां तक टिक सकते थे। उन्हें घिरा हुआ देखकर महाराज सोमेश्वर आगे बढ़े। वे सेना को चीरते हुए आ रहे थे लेकिन उनके आते-आते राजा सलख ने वीरगति प्राप्त कर ली। यह देखकर महाराज सोमेश्वर के क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्होंने क्रोधान्ध होकर ऐसा भयंकर युद्ध किया कि भीमदेव के सहायक राजाओं एवं सैनिकों में से बहुत सों को मार भगाया। इस बीच उन्होंने देखा कि सरदार वीरभद्र भी गुजरातियों के बीच घिर गये हैं। वे उनकी तरफ बढ़े। इस ओर राजा भीमदेव उनके सामने आया। भयंकर युद्ध होने लगा। महाराजा सोमेश्वर के साथ केवल १५० सैनिक थे। इतने थोड़े से सैनिकों के साथ ही वे आधे घन्टे तक युद्ध करते रहे। राजा भीमदेव ने उनके ऊपर एक ऐसा वार किया कि वे घोड़े से गिर पड़े। लेकिन गिरते गिरते भी उन्होंने भीमदेव पर ऐसा वार किया कि वह भी घायल होकर जमीन पर गिर गया। गुजराती सैनिक घायल राजा को उठा ले गये और महाराज सोमेश्वर युद्ध भूमि में ही सदा के लिए सो गये। युद्ध समाप्त हो गया और आबू पर भीमदेव का कब्जा हो गया। पृथ्वीराज को इस समाचार से बड़ा आघात पहुँचा और उन्होंने भीमदेव से बदला लेने का विचार कर लिया।

उन दिनों दिल्ली के राजा अनंगपाल थे। अनंगपाल की एक कन्या का विवाह महाराज सोमेश्वर से हुआ था और दूसरी का जयचन्द के पिता के साथ। राजा अनंगपाल पृथ्वीराज पर बड़े प्रसन्न थे। अनंगपाल के कोई पुत्र नहीं था अतः वे पृथ्वीराज को बड़ा स्नेह करने लगे थे। पृथ्वीराज कभी अजमेर और कभी दिल्ली रहते थे। अब अनंगपाल वृद्ध हो गये थे। उन्होंने अपना अन्तिम समय बद्रिकाश्रम में रह कर व्यतीत करने का निश्चय किया और अपने दूतों को भेज कर पृथ्वीराज को राज कार्य संभालने के लिए बुलवाया। जब यह शुभ समाचार महाराज पृथ्वीराज को मिला तो उन्होंने अपने सामन्तों से परामर्श किया। बात यह थी कि कन्नौज के राजा जयचन्द महाराज अनंगपाल की बड़ी पुत्री के पुत्र थे और पृथ्वीराज छोटी पुत्री के। अतः नियमानुसार दिल्ली की गद्दी के अधिकारी जयचन्द थे। सामन्तों ने राय दी कि जब महाराज अनंगपाल स्वयं स्वेच्छा से शासन का भार सौंप रहे हैं तो उसे ले लेने में कोई हर्ज नहीं है। इस विचार के अनुसार वे शीघ्र ही देहली पहुंचे। दिल्ली में उत्सव मनाया गया और सं. ११३८ में मार्गशीर्ष शुक्ल ५ को यथाविधि राज्याभिषेक कर दिया गया।

उन दिनों देवगिरि में राजा भानराय राज्य करते थे। उनकी एक रूपवती कन्या थी। कन्या का नाम था शशिवृता। शशिवृता का विवाह भानराय ने कन्नौज के राजा जयचन्द के भतीजे वीरचन्द से करने का निश्चय कर लिया था। लेकिन शशिवृता पृथ्वीराज की वीरता से प्रभावित थी। वह उनके साथ ही विवाह करना चाहती थी। पिता को जब पुत्री की इच्छा मालूम हुई तो वे बड़े असमंजस में पड़े। अपने मन्त्रियों से परामर्श करके भी वे इसी निर्णय पर पहुंचे कि शशिवृता का विवाह वीरचन्द के साथ ही किया जाना चाहिए। लेकिन शशिवृता ने साफ शब्दों में कह दिया कि "मैं पृथ्वीराज के अतिरिक्त किसी से भी विवाह नहीं करूंगी।" यह

देख भानराय ने एक चाल चली। उसने पृथ्वीराज को पत्र लिखा कि "शशिवृता आपसे विवाह करना चाहती है लेकिन चूंकि विवाह वीरचन्द के साथ होना निश्चित हो गया है, आप विवाह के दिन अमुक शिवालय के पास छिप रहिए। जब शशिवृता वहाँ दर्शन के लिए आए तो उसे अपने साथ ले जाइये।" भानराय ने सोचा कि इस युक्ति से भानराय के ऊपर कोई दोष न आएगा और शशिवृता की इच्छा भी पूरी हो जायगी।

पृथ्वीराज तो पहिले से ही शशिवृता के बारे में सुन चुके थे। अपने चुने हुए सैनिकों के साथ वहाँ पहुंच गये। वीरचन्द विवाह के लिए सेना सहित आ पहुंचा था। पृथ्वीराज अपने सैनिकों को वीरचन्द की सेना में जोगियों का वेश बनाकर मिल जाने की आज्ञा दी और स्वयं मन्दिर के आस-पास चक्कर काटने लगे। जब शशिवृता अपनी सहेलियों के साथ आई तो वे उसे अपने घोड़े पर बिठा कर चल दिये। वीरचन्द के सैनिकों ने शशिवृता का हरण देखा और वे उसे छुड़ाने के लिए पृथ्वीराज के पीछे दौड़े। वीरचन्द भी मन्दिर में आ रहा था वह भी इसी काम में जुट गया। महाराज पृथ्वीराज के सैनिक अपनी गुदड़िया फेंक कर शस्त्र चलाने लगे और मन्दिर के पास भयंकर मारकाट होने लगी। थोड़ी दूर पर ही पृथ्वीराज की सेना थी। वे वहीं पहुंच गये और अब दोनों सेनाओं में संग्राम होने लगा। वीरचन्द से अपना भेद छिपाने के लिए भानराय भी उसी की ओर से युद्ध करने लगा। जब शाम हुई और युद्ध बन्द हुआ तो भानराय हार मानकर लौट गया। वीरचन्द ने दूसरे दिन भी युद्ध किया। दिन भर भयंकर लड़ाई हुई। उसकी सेना के नौ बड़े-बड़े सामन्त काम आये लेकिन हार-जीत का निर्णय न हुआ। तीसरे दिन फिर युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के सैनिक ऐसी वीरता से लड़े कि शत्रु के छक्के छूट गये। विजय श्री ने पृथ्वीराज के गले में जयमाला डाली और

वीरचन्द पराजय का उदासी मिश्रित क्रोध लेकर चला गया। उसने इस पराजय के लिए भानराय को दोषी ठहराया और उससे बदला लेने का निश्चय किया। उसने जाकर देवगिरि को घेर लिया। भानराय बड़ा परेशान हुआ उसने पृथ्वीराज को सहायता के लिए लिखा और वीरचन्द ने सारा हाल जयचन्द को लिखा। जयचन्द ने उसे लिखा कि वहीं रहो। मैं एक बड़ी सेना के साथ आ रहा हूँ।'

पृथ्वीराज ने भानराय की सहायता करना अपना कर्तव्य समझा और चित्तौड़ के राजा रावल समरसिंह से सहायता मांगी। समरसिंह ने उत्तर दिया कि 'गोरी दिल्ली पर आक्रमण कर सकता है अतः आप वहीं रहिए और अपने किसी सामन्त के साथ कुछ सेना भेज दीजिए। मैं अपने भाई अमरसिंह को देवगिरी भेज दूंगा।' पृथ्वीराज ने अपने प्रसिद्ध सामन्त चामुण्डराय के साथ सेना को रवाना किया। चामुण्डराय ने देवगिरी पहुंचते ही वीरचन्द की सेना पर आक्रमण कर दिया। रात का समय था और वर्षा हो रही थी। वीरचन्द की सेना घबरा गई लेकिन वह युद्ध करता रहा। इधर चामुण्डराय की सहायता के लिए अमरसिंह आ गये और उधर जयचन्द भी आ पहुँचे। वीरचन्द की सेना दो ओर से घिरी हुई थी जयचन्द ने स्थिति को विषम होते हुए देख कर एक चाल चली। उसने भानराय को लिखा कि—'आप हमें अपना मित्र समझिए और हमारी मदद कीजिए। वीरचन्द ने गलती अवश्य की है लेकिन उसे आपको भुला देना चाहिए।'

भानराय ने अपने मन्त्रियों से परामर्श किया। मन्त्रियों ने राय दी कि जयचन्द बड़ा कूटनीतिज्ञ है। उसकी चाल में आकर हमें पछताना पड़ेगा। अतः उसे इन्कार कर देना ही ठीक होगा।' भानराय ने उसे इन्कार लिख दिया। अब जयचन्द ने सारी

स्थिति पर विचार किया। मन्त्रियों ने भी राय दी कि भानराय, चामुण्डराय और अमरसिंह की सम्मिलित सेना का मुकाबला करना बड़ा कठिन है। फिर शशिवृता हाथ से निकल चुकी है। ऐसी स्थिति में लड़ाई करना व्यर्थ है। जयचन्द ने भी इसे स्वीकार किया। और वह बिना लड़े कन्नोज लौट गया। लेकिन प्रतिशोध की ज्वाला उसके मन में भड़क चुकी थी।

पृथ्वीराज को अपने पिता की मृत्यु से बड़ी चोट पहुंची थी। वे भीवदेव से बदला लेने के लिए समय की ताक में ही थे। आखिर वह समय आ गया। भीमदेव ने रावल समरसिंह पर चढ़ाई कर दी। समरसिंह से पृथ्वीराज की बहिन पृथाकुमारी का विवाह हुआ था। वे रिश्ते में उनके बहनोई होते थे। यह खबर पाकर पृथ्वीराज उनकी मदद के लिए तैयार हो गये। समरसिंह की सहायता के लिए सेना के साथ रवाना हो गये। मार्ग में समरसिंह का दूत मिला। उसने सारे समाचार सुनाये। पृथ्वीराज ने उससे कहा—"महाराज से कहना चिन्ता न करें। मैं अकेला ही भीमदेव को ठीक कर दूंगा।" जब पृथ्वीराज चित्तौड़ पहुँचे तो भीमदेव की सेना से मुठभेड़ हुई। पृथ्वीराज ने जाते ही आक्रमण कर दिया। भीमदेव इसके लिए तैयार नहीं था। बेचारे को लेने के देने पड़ गये। इधर महाराज समरसिंह भी उस पर टूट पड़े। उसकी सेना गाजर-मूली की तरह कटने लगी बेचारा जान बचा कर भागा। उसकी ३० हजार सेना में से केवल ३ व्यक्ति गुजरात पहुँच सके।

लेकिन इतने से पृथ्वीराज को संतोष न हुआ। वे उसे मार कर ही चैन लेना चाहते थे। कुछ समय के बाद वे एक बड़ी सेना लेकर गुजरात की ओर चल दिये। भीमदेव भी तैयार हो गया। यह उसके जीवन-मरण का युद्ध था। भयंकर युद्ध हुआ। महा-

राजा पृथ्वीराज सेना को चीरते हुए भीमदेव के सामने जा पहुँचे और उसे सावधान करते हुए बोले—"भीमदेव, मरने के लिए तैयार हो जाओ।" भीमदेव तैयार होकर बोला—"तुम भी तैयार हो जाओ मैं तुम्हें सोमेश्वर के पास पहुंचा देता हूं।" पृथ्वीराज ने उस पर वार किया। दोनों में लड़ाई हुई और अन्त में पृथ्वी-राज ने उसे मार गिराया।

राजा जयचन्द उस समय के बड़े बड़े राजाओं में से थे। महाराज अनंगपाल की बड़ी पुत्री तो उनकी मां ही थी लेकिन दक्षिण कटक के राजा मुकुन्ददेव की पुत्री से उनका विवाह हुआ था। अनंगपाल देहली के राजा थे और मुकुन्ददेव दक्षिण भारत में बड़े शक्तिशाली थे। उनके पास एक लाख हाथी और दस लाख सैनिक थे। इस प्रकार एक ओर तो वे स्वयं शक्तिशाली थे ही और दूसरी ओर उस समय के शक्तिशाली राजाओं से उनकी रिश्तेदारी थी। अपने वैभव और शक्ति के मद में चूर होकर उन्होंने रायसूय यज्ञ करने का विचार किया। मन्त्रियों ने राय दी कि 'यह राजसूय यज्ञ करने का समय नहीं है। नियमानुसार राजा लोग ही राजसूय यज्ञ का सारा काम करते हैं। लेकिन राजा लोग तभी आएँगे जब वे आपकी अधीनता स्वीकार करें। इस समय राजसूय यज्ञ करने का अर्थ होगा सारे राजाओं से झगड़ा मोल लेना।' लेकिन जयचन्द हठी थे। उन्होंने उनकी राय को कोई महत्व नहीं दिया। यज्ञ करने का दिन निश्चित कर लिया गया और राजाओं को निमन्त्रण पत्र भेज दिये गये। एक दूत पृथ्वीराज के पास भी पहुँचा। जयचन्द पृथ्वीराज से नाराज थे। दिल्ली पर न्यायतः उनका अधिकार पहुँचता था लेकिन वह मिल गया था पृथ्वीराज को। अतः पत्र कड़े शब्दों में था। लिखा था—"मैं अमुक तिथि को राजसूय यज्ञ कर रहा हूँ उसमें सम्मिलित होओ और तुम्हें जो काम सौंपा

जाय करो। साथ ही दिल्ली का आधा राज्य भी मुझे सौंपो क्योंकि उसमें मेरा भी आधा हिस्सा है।"

महाराजा पृथ्वीराज पत्र पढ़ते ही आगबबूला हो गये लेकिन वे आवेश में कोई काम नहीं करते थे। उन्होंने क्रोध को दबा कर दूत से कहा—"जयचन्द से कहना, राजसूय यज्ञ करने का अधिकार उन्हें नहीं है। ऐसा करके वे अपने लिए कांटे ही बोएंगे।" महाराज पृथ्वीराज के इस उत्तर से जयचन्द की क्रोधाग्नि भी भड़क उठी। लेकिन यज्ञ का समय पास था, अतः लड़ाई का विचार कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया और यज्ञ के समय पृथ्वीराज की एक स्वर्ण प्रतिमा बना कर उसे द्वारापल की जगह बिठाया गया।

चन्दवरदाई के रासो एवं इतिहासकारों के वर्णन में बहुत अन्तर है। रासों में लिखा है कि गोरी और पृथ्वीराज में अनेक बार युद्ध हुए और उसे बार-बार हराया गया। यदि रासो के अनुसार सब युद्धों का वर्णन करने लगें तो एक स्वतंत्र पुस्तक की ही आवश्यकता होगी। यहां हम केवल थानेश्वर की लड़ाई का ही संक्षिप्त वर्णन करेंगे। रासों में लिखा है कि बार-बार हार जाने के कारण इस बार वह १ लाख सेना के साथ आया। महाराज पृथ्वीराज पानीपत के पास जंगल में शिकार खेल रहे थे। वहीं उनको गोरी के आक्रमण करने का समाचार मिला। अच्छे-अच्छे सेनापति साथ थे। जल्दी ही २० हजार सेना एकत्र करली गई। जब मुहम्मद गोरी शिविरों के पास आया तो लड़ाई प्रारंभ हुई। खूब जम कर लड़ाई हुई। उधर संख्या बल था और इधर एक-एक बहादुर राजपूत था। लड़ते-लड़ते महाराजा पृथ्वीराज मुगल सैनिकों के बीच घिर गये। लेकिन उन्होंने बड़ी वीरता से युद्ध किया। उन्होंने स्वयं ही अनेक यवनों का संहार किया। यह देख मुसलमानों के पैर उखड़ने लगे अतः मुहम्मद गोरी स्वयं आगे

आया। उसके आते ही मुसलमानों ने फिर जम कर लड़ना शुरू किया लेकिन राजपूतों की तलवारों के सामने वे ज्यादा समय तक न टिक सके। बेचारे भागने लगे। गोरी भी भागने लगा लेकिन लोहाना अजान बाहु ने आगे बढ़कर उसके हाथी का सिर काट डाला और पहाड़राय ने दौड़ कर उसको हाथी पर से खींच लिया। गोरी कैद कर लिया गया और एक मास तक बन्दी रख कर छोड़ दिया गया।

राजसूय यज्ञ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पृथ्वीराज को जब स्वर्ण प्रतिमा वाली खबर मिली तो मानों आग पर घी गिरा। आपस में विचार विनिमय हुआ। सिवाय लड़ाई के और क्या रास्ता हो सकता था। एक सामन्त ने लड़ाई करना अनुचित बताया। उसने कहा जयचन्द के भाई बालुकाराय को यदि मार डाला जाय तो भाई की मृत्यु से अशौच हो जायगा और यज्ञ अपने आप भंग हो जायगा। सबने इस राय को पसंद किया। अतः बालुकाराय पर चढ़ाई कर दी गई। बालुकाराय को सब बातें पहले ही मालूम हो गई थीं अतः जब पृथ्वीराज की सेना खोखन्दपुर पहुँची तो वहां बालुकाराय की सेना भी तैयार मिली। दोनों ओर से लड़ाई शुरू हो गई। महाराजा पृथ्वीराज लड़ते-लड़ते उसके पास पहुँचे और ऐसा वार किया कि वह जमीन पर आ गिरा। कन्ह उसके पास पहुँच गये और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उसके मरते ही सेना भाग निकली।

इस समाचार से जयचन्द का धैर्य छूट गया। वह उसी समय लड़ने के लिए जाना चाहता था। लेकिन रानी ने समझा बुझा कर रोक लिया। कहा—"यज्ञ अवश्य भंग हो गया है लेकिन संयोगिता का स्वयंवर तो हो ही सकता है। इसे कर लिया जाय। सारे राजा उपस्थित हैं ही। लड़ाई बाद में करना ही उचित होगा" यह बात जयचन्द की समझ में आ गई। स्वयंवर की तैयारियां

होने लगी। लेकिन संयोगिता ने कहा 'मैं पृथ्वीराज से ही विवाह करने का निश्चय कर चुकी हूँ। रानी ने यह बात जयचन्द से कही। अब तो जयचन्द के क्रोध का ठिकाना न रहा। एक के बाद एक सब ऐसी ही बातें हो रही थी जो पृथ्वीराज के प्रति अधिकाधिक क्रोध बढ़ा रही थीं। उसने अपनी सेना देहली पर आक्रमण करने के लिए भेजी और सोचा कि जब पृथ्वीराज मार डाला जायगा तो संयोगिता अपने आप ही दूसरे राजा से विवाह करने के लिए तैयार हो जायगी। जब सेना दिल्ली पहुंची तब पृथ्वीराज शिकार खेलने गये थे। सामन्तों ने सेना का मुकाबला किया और उसे मार भगाया। जयचन्द को दुख तो हुआ लेकिन क्या करता ? स्वयंवर का आयोजन किया जा चुका था। राजा लोग पहिले ही आये हुए थे। अतः यथा समय स्वयंवर शुरु किया गया। संयोगिता से कह दिया गया कि पृथ्वीराज के साथ विवाह नहीं हो सकता। उसे इन राजाओं में ही किसी को चुनना पड़ेगा।

संयोगिता जयमाल लेकर सभा-मण्डप में आई। राजा लोग सजे सजाये बैठे थे। जैसे जैसे वह आगे बढ़ती बन्दीजन प्रत्येक राजा का यश वर्णन करते जाते थे। लेकिन उसने किसी के गले में जयमाल नहीं डाली। अन्त में दरवाजे पर जाकर पृथ्वीराज की स्वर्ण प्रतिमा के गले में जयमाल डाल दी। इस पर क्रुद्ध होकर जयचन्द ने उसे काफ़ी भला बुरा कहा और गंगा के किनारे एक महल में कैद कर दिया। यह समाचार पृथ्वीराज को मिला तो उनके क्रोध का भी ठिकाना न रहा। संयोगिता के उत्कट प्रेम और जयचन्द के अपमान ने उनकी क्रोधाग्नि को प्रज्वलित कर दिया। वे कन्नौज पर चढ़ाई करने के लिए उतावले हो गए। उन्होंने चुने हुए सैनिक अपने साथ लिए और कन्नौज की ओर प्रस्थान कर दिया।

इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वीराज अपनी सेना के साथ कन्नौज पहुंचे और सबके देखते देखते संयोगिता को लेकर भाग निकले। इस पर जयचन्द की सेना ने उनका पीछा किया। पृथ्वीराज के कुछ सैनिकों ने जो उनके साथ थे, जयचन्द के सैनिकों को कुछ समय तक रोक दिया। जब पृथ्वीराज दूर निकल गये तो उन्होंने जयचन्द की सेना को आगे बढ़ने दिया। रास्ते में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई जिसमें जयचन्द की हार हुई। कुछ इतिहासकारों का यह भी मत है कि पृथ्वीराज पहिले से ही वहां पहुंच गये थे। वे वहां भीड़ में छुप गये। जैसे ही संयोगिता ने उनकी प्रतिमा के गले में जयमाल डाली वे उसे घोड़े पर बिठाकर भाग निकले।

रासो में लिखा है कि पहिले चन्द कवि जयचन्द के दरबार में गये और पृथ्वीराज वेश बदलकर उनके नौकर के रूप में साथ साथ गये। जयचन्द ने चन्द कवि का नाम सुन रक्खा था अतः उसने उन्हें बड़े आदर के साथ अपने पास बुलाया। चन्दकवि ने पृथ्वीराज की प्रशंसा में लिखी हुई अपनी कविताएँ उसे सुनाई जिससे उसे मन ही मन बुरा लगा लेकिन उसने प्रकट रूप में कुछ नहीं कहा। धीरे धीरे पृथ्वीराज के साथ होने की बात खुलने लगी। जयचन्द ने पृथ्वीराज को मार डालने का षडयन्त्र रचा। लेकिन प्रकटरूप में उसने बड़े आदर सत्कार के साथ चन्द कवि को विदा किया। सैनिकों से कह दिया गया था कि चन्दकवि के दरबार से विदा होते ही उसका निवास स्थान घेर लें। उसमें कहीं न कहीं पृथ्वीराज होंगे ही। उनको पकड़कर मार डाला जाय। अतः जब चन्दकवि अपने निवास स्थान पर पहुंचे तो सैनिकों ने उसे घेर लिया। अब क्या था? लड़ाई शुरु हो गई। खूब घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में जयचन्द का मन्त्री तथा भानजा भी मारा गया। युद्ध का भार सामन्त पंगुराय को सौंपकर पृथ्वीराज उस महल में गये जो गंगा किनारे था। इसमें संयोगिता कैद थी। सखियों से जान

पहिचान करके वे महल में पहुंच गये और वहां संयोगिता से गंधर्व विवाह कर लिया। मौका पाते ही उन्होंने संयोगिता को लेकर भाग निकलने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता मिल गई। इसी प्रकार और भी कई बातें इस सम्बन्ध में कही गई हैं जो भी हो इस युद्ध में दोनों ओर की काफी क्षति हुई।

जयचन्द का क्रोध अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। वह पृथ्वीराज की जान का ग्राहक हो गया। जैसे तैसे बदला लेना ही उसका ध्येय हो गया। वह स्वयं तो इसके लिए समर्थ नहीं था। उसने सोचा कि पृथ्वीराज के शत्रु गोरी के साथ मिलकर लड़ने से ही सफलता मिल सकती है। क्रोधावेश में उसने गोरी को भारतवर्ष पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया और लिखा कि मैं आपकी पूरी तरह सहायता करूंगा। जब गोरी को यह पत्र मिला तो उसको खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उसे पूरा विश्वास हो गया कि शक्तिशाली जयचन्द की मदद से उसको सफलता निश्चित है। युद्ध की तैयारी तो वह पहिले ही कर रहा था। अब और उत्साह से यह कार्य आरम्भ हुआ और पूरी तैयारी करके उसने प्रस्थान कर दिया।

इधर जब से पृथ्वीराज संयोगिता को लाये तबसे उसके प्रेम-पाश में इस प्रकार जकड़ गये कि महलों से निकलना ही बन्द हो गया। राज्य के काम बिगड़ने लगे। मन्त्रियों ने उनके पास इस व्यवस्था की खबर भेजना चाही लेकिन इतने में ही खबर मिली कि गोरी चढ़ाई की तैयारियाँ कर रहा है। अब तो यह बात और भी आवश्यक हो गई। चन्द कवि ने एक पंक्ति लिखकर महाराज के पास पहुंचाई। उसमें लिखा था—

"तू गोरी पर रत्तियम, ती घर गोरी तक्कियम।"

अर्थात् तू स्त्री में आसक्त है। लेकिन उधर गोरी तेरे घर को ताक रहा है।

पृथ्वीराज ने पुर्जा पढ़ा और उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। देते भी कैसे? होनहार कुछ और ही था। यह समाचार समरसिंह जी के पास पहुंचा। उनको बड़ा दुख हुआ। क्योंकि वे परिस्थिति की विषमता से परिचित थे। अपने पुत्र को गद्दी देकर वे दिल्ली की सहायता के लिए सेना सहित चल पड़े। जब दिल्ली आये तो किसी ने उनका स्वागत नहीं किया। उन्होंने अपनी आँखों सारी स्थिति देखी। कुछ दिन बाद उनके आने की खबर पृथ्वीराज के पास पहुंची। पृथ्वीराज उनसे मिलने आये और उन्हें विदाई देकर विदा करने लगे। लेकिन रावल समरसिंह ने बताया कि वे अभी वहीं रहना चाहते हैं। दूसरे दिन उन्होंने पृथ्वीराज को समझाया और सारी स्थिति उनके सामने रखी। पृथ्वीराज की आँखें खुलीं और वे लड़ाई की तैयारी करने लगे। इधर गोरी की सेना बढ़ती आ रही थी। अतः वे भी जल्दी से मुकाबला करने के लिए आगे बढ़े। तरायन के मैदान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई।

रासो में लिखा है कि गोरी ने एक चाल चली। उसने लिखा—"यदि तुम इस्लाम गृहण कर लो और राज्य का कुछ अंश दे दो तो मैं लौट सकता हूँ।" पृथ्वीराज ने उत्तर दिया—हम तुम्हें कई बार हरा चुके हैं यदि भला चाहते हो तो लौट जाओ अन्यथा मुँह की खानी पड़ेगी।" गोरी ने उत्तर दिया कि "वास्तविक राजा तो मेरे भाई हैं। उनसे राय लेने के लिए गजनी पत्र लिख रहा हूं। जब तक उनका कोई उत्तर न आये तब तक कृपाकर युद्ध स्थगित रखिये।" पृथ्वीराज इस चाल में आ गये। लेकिन समरसिंहजी

ने सेना से कह रखा था कि किसी भी समय आक्रमण हो सकता है। हुआ भी यही। मौका पाकर रात के समय गोरी की सेना ने आक्रमण कर दिया। इधर सब लोग सो रहे थे। आक्रमण का हो-हल्ला सुनते ही जागे। रातभर घमासान लड़ाई हुई। रावल समरसिंह और पृथ्वीराज ने जमकर लड़ाई की। सैकड़ों मुसलमानों को यम के घाट उतार दिया। महाराज समरसिंह लड़ते लड़ते मारे गये और इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वीराज ने भी लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त की।

रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले जाया गया और वहाँ उन्हें कैदखाने में रखा गया। चन्दबरदाई को अपने स्वामी की इस दशा पर बड़ा दुःख हुआ और वे भी गजनी पहुंचे। अपने वाक्-चातुर्य से उन्होंने गोरी को आकर्षित कर लिया। उसने उनको अपने दरबार में स्थान दे दिया। एक दिन उन्होंने गोरी से कहा "जहाँपनाह, पृथ्वीराज शब्द भेदी बाण चलाने में बड़े चतुर हैं। यदि आज्ञा हो तो उनसे अपनी कला का प्रदर्शन करने का आग्रह करूं"। गोरी को इन बातों से बड़ा कौतुहल हुआ। उसने आज्ञा दे दी। चन्द कवि मन ही मन प्रसन्न हुए। उन्होंने पृथ्वीराज से मिलकर सब बातें समझाई और कहा इस अवसर को नहीं चूकना चाहिए। यथा समय राज-दरबार में सब लोग उपस्थित हुए और पृथ्वीराज भी बुलाये गये। उनको एक धनुष बाण दे दिया गया। जब सब तैयारी हो गई तो चन्द कवि ने यह कविता पढ़ी—

ए ही बाण चौहान ! राम रावण उत्थयो ।
ए ही बाण चौहान ! करण सिर अर्जुन कट्ठयो ॥
ए ही बाण चौहान ! शंभु त्रिपुरासुर सध्यो ।
ए ही बाण चौहान भ्रमर लछमन कर बंध्यो ॥

सो बाण आज तो कर चढ्यो चन्द विरद सच्चो सवै।
चौहान राज संगर घनी मत चूके मोटे तवे॥
चार बांस चौबीस गज अंगुल अष्ट प्रमाण।
एते पर सुलतान है मत चूके चौहान॥

इतना कहकर चन्द कवि ने गोरी से कहा—"जहाँपनाह, पृथ्वीराज आपके बन्दी हैं, बिना आपकी आज्ञा के बाण नहीं चलाएंगे। अतः आज्ञा दीजिये।" गोरी ने आज्ञा दी और पृथ्वीराज ने उसके शब्द सुनते ही ऐसा बाण मारा कि बेचारे का सिर धड़ से अलग हो गया। चन्द और पृथ्वीराज ने छुरी मार कर आत्महत्या कर ली। इतिहासकार इस घटना की सत्यता में विश्वास नहीं करते।

कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि पृथ्वीराज भारतवर्ष का अन्तिम हिन्दू सम्राट था। उसने कई युद्धों में अपनी वीरता का परिचय दिया था। तत्कालीन राजा उसकी बहादुरी का लोहा मानते थे। उनमें उत्साह था, वीरता थी, उदारता थी और थी शासन संचालन की अपूर्व क्षमता। वे एक कुशल नेता और जबरदस्त सेनापति थे। वीरता में भी उनका कोई सानी नहीं था। लेकिन यदि उनमें विलासिता न होती और हमारे देश में जयचन्द जैसे कुल-कलंक न होते तो घर की फूट के द्वारा हिन्दू साम्राज्य का अन्त न होता। जयचन्द को उसके देशद्रोह का नतीजा मिल ही गया। लेकिन उसका कड़वा परिणाम देश को भी १००० वर्ष तक भोगना पड़ा।
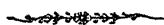
महाराणा कुंभा

राणा लाखा के दरबार में मन्त्री सरदार और प्रतिष्ठित सामन्त यथा स्थान बैठे थे। शासन सम्बन्धी बातों पर चर्चा हो रही थी। इसी समय मण्डोवर के राजगुरु उपस्थित हुए। राजगुरु ने बताया कि वे युवराज चूड़ा के साथ अपने राव की कन्या का विवाह स्थिर करने के लिए टीके का सामान लाये हैं। वृद्ध राजा ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा—"क्या, ऐसी सफेद दाढ़ी वाले के लिए यह सामान नहीं है ?" राजगुरु मुस्कराये और उनके साथ राणाजी तथा सारे सामन्त खिलखिला पड़े। हँसी के इसी कह-कहे के बाद युवराज बुलाये गये। वे आये और यथा स्थान बैठ गये। सारा प्रसंग वे सुन चुके थे। उन्होंने हँसी को हँसी नहीं समझा। उन्होंने सोचा हँसी में ही सही लेकिन पिताजी उस कन्या से विवाह जरुर करना चाहते हैं। यदि उनकी यही इच्छा है तो वह कन्या मेरी माता होती है। मुझे उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। जब उस विवाह सम्बन्ध के विषय में उनकी सम्मति माँगी गई. तो बोले—"पिताजी, जिस कन्या के साथ विवाह करने की आपकी इच्छा हुई–चाहे वह मजाक में ही क्यों न हो–मैं उसके साथ विवाह नहीं करूँगा। आपही इसे स्वीकार कर लीजिये।" राणाजी और सभासदों को ऐसे उत्तर की कल्पना न थी। सभी चकित हो गये। राणाजी ने युवराज को समझाया—'वह तो मजाक थी'। लेकिन युवराज अपने वचनों पर दृढ़ रहे। राणाजी ने बार बार समझाया लेकिन चूड़ावत टस

से मस न हुए। राणाजी को क्रोध आया। बोले-"यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो उसे मैं स्वीकार कर लूंगा लेकिन उस कन्या से जो सन्तान होगी वही राजसिंहासन की अधिकारी होगी। क्या तुम अपना अधिकार छोड़कर इतना त्याग करने के लिए तैयार हो?" चूड़ाजी बोले-"हां, मैं एकलिंगजी की शपथ खाकर कहता हूं कि मैं अपना अधिकार छोड़ता हूँ।" चूड़ाजी के इस त्याग से राज दरबार में 'धन्य-धन्य' की आवाज गूंज गई। राणाजी का विवाह हो गया और इसी राजपुत्र से राजकुमार मोकल का जन्म हुआ।

राणा वृद्ध थे। अन्तिम समय तीर्थ सेवन और भगवद्-भक्ति में व्यतीत करना चाहते थे। उन्होंने एक बार फिर चूड़ाजी के त्याग की परीक्षा की, लेकिन चूड़ाजी दृढ़ थे। राणा ने मोकल को राजगद्दी पर बैठाया और स्वयं गया की ओर धर्मयुद्ध के लिए चले गये। मोकल अभी पांच ही वर्ष के थे। अतः राज का काम चूड़ाजी को सौंपा गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि चूड़ाजी उसे बड़ी कुशलता और कर्त्तव्यभावना से संभाल रहे थे। कुछ ही समय बाद समाचार मिला कि राणाजी मुसलमानों से लड़ते हुए परलोक सिधारे। अब तो चूड़ाजी की जिम्मेदारी और बढ़ गई और वे अधिक तत्परता से अपना कर्तव्य करने लगे। लेकिन यह बात रानी के भाई रणमल को अच्छी नहीं लगी। उसने रानी के कान भरे और रानी को चूड़ाजी के विरुद्ध कर दिया। चूड़ाजी ने जब अपने कर्त्तव्य पालन से रानी को असन्तुष्ट पाया तो बोले-"मैं तो आपका शुभचिन्तक हूं। यदि मेरे काम से असन्तुष्ट हों तो मैं मेवाड़ छोड़कर चला जाता हूँ। जब मेरी आवश्यकता समझें याद कर लीजिये।" रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया। देती भी क्यों? वे तो यही चाहती थीं। अतः चूड़ाजी अपनी मातृ-भूमि को नमस्कार करके चले गये। दुनिया के इति-

हास में राज्य के लिए महायुद्धों का सूत्रपात हुआ है लेकिन चूड़ाजी जैसा यह अपूर्व त्याग मेवाड़ के इतिहास की ही विशेषता है।

चूड़ाजी के बाद रणमल ने मेवाड़ का शासन सूत्र अपने हाथ में संभाला और जब मोकल शासन कार्य संभालने लगे तो इधर से कुछ निश्चित होकर अपने राज्य में भी रहने लगे। एक बार मोकलजी गागरोन के राजा अचलसिंह की सहायता करने के लिए सेना-सहित निकले। अचलसिंह उनके जामाता थे। उन पर मालवे के राजा ने चढ़ाई की थी। मोकलजी ने एक स्थान पर जंगल में पड़ाव डाला। इसी समय उनके काका, चाचा और मेरा ने विश्वासघात किया। अपनी एक छोटी-सी सेना लेकर उन्होंने मोकलजी पर आक्रमण कर दिया। राज-परिवार को अंग-रक्षकों ने बहुत बचाया लेकिन आक्रमणकारियों के सामने उनकी एक न चली। सबको उन्होंने तलवार के घाट उतार दिया। इस हत्याकाण्ड से चारों ओर हाहाकार मच गया।

१४३३ ई. में मोकलजी की हत्या होने पर उनके जेष्ठ पुत्र कुम्भा मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि चाचा मेरा से पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए एक सेना भेजी। रणमल ने जब यह समाचार सुना तो वे भी एक सेना लेकर मोकलजी की मृत्यु का बदला लेने के लिए निकले। पई कोटड़ा के पहाड़ों में चाचा और मेरा का स्थान था। रणमल और कुम्भाजी की सेनाओं ने इस स्थान को घेर लिया। दोनों भाई पहाड़ की चोटी पर बने हुए एक सुदृढ़ दुर्ग में रहते थे। दुर्ग का मार्ग बड़ा कठिन था। रात के समय अनेक कठिनाइयों को पार करके सब लोग किले में पहुँचे। चाचा और मेरा प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थे। सेना के आने से

कुछ शोर हुआ और वे जागे। कुछ देर लड़ाई हुई। अन्त में वे लोग मार डाले गये।

महाराणा कुम्भा के समय दिल्ली का शासन बड़ा डाँवा-डौल था। कभी कोई शासक होता था, कभी कोई। खिलजी वंश अपनी अन्तिम सांसें भर रहा था। अतः भिन्न-भिन्न स्थानों के सूबेदार स्वतन्त्र होने की तैयारी कर रहे थे और कुछ तो स्वतन्त्र हो ही गये थे। बीजापुर, गोलकुण्डा, मालवा, गुजरात, कालपी, जौनपुर इसी प्रकार के नये राज्य थे। इन स्थानों के सूबेदार ही वहाँ के राजा बन बैठे थे। इन नव-निर्मित राज्यों में मालवा, गुजरात और नागोड़ सबसे ज्यादा शक्तिशाली थे। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए ये लोग काफी प्रयत्न कर रहे थे और आस-पास के छोटे-छोटे राजाओं को अपने आधीन करते जा रहे थे। मालवा और गुजरात की आँखें मेवाड़ पर लगी हुई थीं वे उसे अपने राज्य में मिलाने के स्वप्न देख रहे थे।

मालवा और गुजरात के शासक इस ताक में थे कि उनको मेवाड़ पर आक्रमण करने का मौका मिले और वे उस पर अपना इस्लामी झंडा फहरा दें। वे अपनी आँखों से मेवाड़ का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते थे। वे चाहते थे कि या तो महाराणा कुम्भा उनकी आधीनता स्वीकार करें या उनके राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करके अपने राज्य में मिला लें। महाराणा का उत्कर्ष, बढ़ती हुई शक्ति और हिन्दुत्व प्रेम उनकी आँखों में खटकते रहते थे। सन् १४४२ में महाराणा कुम्भा ने हारावती पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। उन्हें चित्तौड़ पर किसी ओर से किसी प्रकार के आक्रमण की संभावना नहीं थी अतः चित्तौड़ में कोई सेना नहीं छोड़ी। माँडू का सुलतान ऐसे अवसर की ताक में ही था। चाचा मेरा के एक साथी महपा को उसने आश्रय दिया था और जब उसने उसे

वापिस देने से इन्कार कर दिया तो महाराणा ने उसे बुरी तरह हराया था; अब अच्छा अवसर जानकर वह आक्रमण के लिये चल पड़ा। उसने आकर डेरा डाला। उसकी इच्छा थी कि वहाँ के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय। जब यह बात इधर-उधर फैली तो महाराणा का एक जागीरदार जिसका नाम दिलीपसिंह था अपनी सेना लेकर आगे आया। उसने छः दिन तक सुलतान के साथ लड़ाई की और मन्दिर पर उसका कब्जा न होने दिया। सातवें दिन लड़ते-लड़ते युद्ध क्षेत्र में उसने वीरगति प्राप्त की। अब तो मन्दिर सुलतान के कब्जे में आ गया। उसने मन्दिर तुड़वा डाला और पाषाण प्रतिमा को जलाकर चूना बनवाया। इस चूने को पान पर लगा-लगा कर उन लोगों ने खाया। इस छोटी-सी विजय से सुलतान का साहस बढ़ गया। अब वह चित्तौड़ की ओर बढ़ा। महाराणा को जब यह समाचार मिला तो वे लौटे और उन्होंने माण्डलगढ़ के पास सुल्तान की सेना पर आक्रमण कर दिया। कई दिनों तक भयंकर मारकाट होती रही। अन्त में सुल्तान हार गया और मांडू की ओर भाग गया। लेकिन इस हार से उसे संतोष नहीं हुआ था। थोड़े ही दिन बाद फिर अपनी सेना लेकर चित्तौड़ पर चढ़ दौड़ा। महाराणा ने उसे बीच में ही रोका और इतनी बुरी तरह हराया कि फिर उसने इधर देखने का भी साहस नहीं किया।

इस घटना के दस वर्ष बाद सुलतान ने फिर सिर उठाया। उसने प्रकट किया कि अजमेर मुसलमानों का तीर्थ स्थान है। वहां का सूबेदार राजपूत है जो धार्मिक कार्यों में बाधा डालता रहता है। अतः मैं अपने धर्म स्थान को विधर्मियों के बन्धन से मुक्त करना चाहता हूँ। उसकी इस धर्म-दुहाई से बहुत से धर्मान्ध मुसलमान उसके साथ हो गए। अजमेर के मुसलमानों ने भी उसके पास

सन्देश भेजा कि यदि सुलतान ने अजमेर पर आक्रमण किया तो वे सब उनकी मदद करेंगे। महाराणा को धोखा देने के लिए उसने अपनी सेना मन्दसौर की ओर भेजी। महाराणा का ध्यान मन्दसौर पर केन्द्रित हुआ। उधर पीछे से उसने अजमेर पर आक्रमण किया। अजमेर के सूबेदार ने सुलतान का मुकाबला बड़ी बहादुरी से किया। कई दिनों तक लड़ाई हुई। अन्त में गजाधरसिंह ने वीरगति प्राप्त की। सुलतान ने अजमेर पर कब्जा कर लिया और खुशी खुशी लौटा। यह खबर राणाजी को मालूम हो गई थी। जब वह मण्डलगढ़ की नदी के पास आया तो महाराणा ने उसपर आक्रमण किया और उसे मार भगाया।

इन दिनों नागोड़ के सुलतान की मृत्यु हो गई। बड़ा लड़का न्यायतः उत्तराधिकारी था लेकिन छोटे को यह सहन नहीं हुआ। बड़ा लड़का शम्सखां महाराणा की शरण में आया और उनसे नागोड़ का राज्य प्राप्त करने के लिए सहायता मांगी। महाराणा ने कहा—"यदि तुम चित्तौड़ की आधीनता स्वीकार करो और किले के मुख्य भाग को तुड़वा दो तो मैं तुम्हें सहायता दे सकता हूँ।" शम्सखां ने ये शर्तें मंजूर कर ली। अतः महाराणा ने नागोड़ पर चढ़ाई की और उसे गद्दी पर बिठाया। जब वह गद्दी पर बैठ गया तो महाराणा ने उससे वे दोनों शर्तें पूरी करने को कहा। वह किले के मुख्य भाग को गिरवाने लगा तो उसके सरदारों ने विरोध किया। इसपर उसने महाराणा से प्रार्थना की कि अभी आप मुझे क्षमा कीजिए ज्योंही मेरे सरदारों का जोश ठंडा पड़ेगा वैसे ही मैं किले का मुख्य भाग तुड़वा दूंगा। यदि इनकी इच्छा के विरुद्ध मैंने इसे गिरवाया तो बहुत संभव है कि ये आपके जाते ही मुझे मार डालें। महाराणा उसकी बातों में आगए और लौट आए।

जब नागोड़ की आन्तरिक स्थिति ठीक हो गई तो उसने अपने वायदे को पूरा करने का विचार ही छोड़ दिया। उल्टे अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए किले के उस भाग की मरम्मत करवाना शुरु कर दिया। उसे अब अपने वैभव पर अभिमान होने लगा था। वह सोचता था कि राणाजी का इधर ध्यान न जायगा। यदि गया तो फिर खुशामद और झूठे आश्वासनों के शस्त्र मेरे पास हैं ही। जब यह खबर महाराणा के पास पहुँची कि वह अपने वचन का पालन नहीं कर रहा है और इसके विपरीत किले के उस भाग को और सुदृढ़ बना रहा है तो उन्होंने अपनी सेना को नागोड़ पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। शम्सखाँ को जब यह समाचार मिला तो उसने गुजरात के सुलतान से अपनी लड़की का विवाह कर दिया और उसे अपनी मदद के लिए बुला भेजा। गुजरात का सुलतान तो महाराणा के उत्कर्ष से नाराज था ही अपने सम्बन्धी की सहायता और मेवाड़ को नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से उसने सेना भेज दी। उसके लिए तो एक ढेले में दो पक्षियों की शिकार हो रही थी। महाराणा को मार्ग में यह बात मालूम हुई कि गुजरात का बादशाह भी आ रहा है। उन्होंने सोचा कि यदि दोनों सेनाएं मिल गईं तो उनको हराना बड़ा कठिन होगा। अतः पहिले गुजरात की सेना को रास्ते में ही घेर लेना ठीक होगा। इसी निश्चय से वे गुजरात से नागोड़ जानेवाले रास्ते को घेरकर वहीं जम गए। गुजरात की सेना बढ़ती चली आ रही थी। जब महाराणा को समाचार मिला कि गुजरात की सेना पास आ गई और दो पहर तक वह यहाँ आ पहुँचेगी तो लड़ाई के लिए तैयार हो गए। जैसे ही गुजरात की सेना पास आई और उसने महाराणा को रास्ता घेरे हुए देखा तो उसके छक्के छूट गए। लेकिन क्या किया जा सकता था? लड़ाई के अलावा दूसरा कोई रास्ता ही नहीं था। दोनों ओर के सैनिक भिड़गए और तुमुल युद्ध आरम्भ हो गया। राजपूत तो अपनी

वीरता के लिए प्रसिद्ध ही थे। मुसलमान भी अपनी पहिली हार से असन्तुष्ट होकर बड़े जोर-शोर के साथ युद्ध करने लगे। दोनों दल प्राणपण से लड़ते लड़ते मरने को तैयार थे। देखते ही देखते युद्ध भूमि में खून की धाराएं बह निकली और युद्ध क्षेत्र रुण्ड-मुण्डों से भर गया। राजपूत अपनी मोर्चेबन्दी कर चुके थे लेकिन यह अवसर सुलतान की फौज को नहीं मिला था। राजपूत अपने मोर्चों पर डटे रहे। उनकी दृढ़ता के सामने आखिर मुसलमानों को विचलित होना पड़ा। सुलतान हार गया और उसकी सेना गुजरात की ओर भाग गई।

अब महाराणा नागोड़ की तरफ बढ़े। शम्सखाँ को गुजरात की हार का समाचार मिल चुका था अतः राणाजी को आते देखकर घबराया। लेकिन अनुनय विनय और खुशामद का शस्त्र उस के पास था ही। जब महाराणा नागोड़ आए तो उनसे क्षमा मांगने चला आया। महाराणा तो उदार थे ही। उसकी स्थिति पर तरस आ गया। उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। महाराणा इस बार भी समझ न पाए कि यह अनुनय-विनय-कोरी अवसर वादिता है। इसमें हार्दिकता नहीं है। खैर, राणा लौट गए और शम्स फिर अपनी तैयारियां करने लगा।

इधर जब गुजरात की सेना हारकर भाग गई तो कुतुबशाह को बड़ा दुःख हुआ। उसे सेनापर बहुत क्रोध आया। इस बार उसने एक विशाल सेना का संगठन किया और स्वयं महाराणा से लड़ने के लिए चल दिया। महाराणा को यह समाचार अपने दूतों द्वारा मालूम हुआ। अपनी उदारता पर उन्हें पश्चात्ताप सा हुआ लेकिन अब उन्होंने निश्चय किया कि इस बार शत्रुओं को इस तरह कुचल दिया जाय कि वे भविष्य में फिर ऐसा दुस्साहस न कर सकें। फिर महाराणा ने लड़ाई की तैयारी की और अपनी सेना

के दो भाग किये। इस बार उन्हें शम्स के वचन भंग और धोखे पर ज्यादा क्रोध आ रहा था। उन्होंने अपनी सेना के एक भाग को गुजरात के मार्ग पर भेजा ताकि वह गुजरात की सेना को रोके रहे और दूसरे भाग को लेकर नागोद पहुंचे। शम्सखाँ शक्तिहीन था। महाराणा की सेना ने किला घेर लिया। उसने कुछ समय तक युद्ध किया लेकिन रण-बाकुरे राजपूत वीरों के सामने कब तक ठहरता ? थोड़े ही देर में हार गया। राजपूतों ने नागोड़ पर कब्जा कर लिया।

इधर महाराणा की सेना ने गुजरात की सेना को रास्ते में रोका। सुलतान की सेना विशाल थी। राजपूत सेना तो उसके मुकाबले से नगण्य थी। फिर भी उन्होंने सुल्तान की विशाल वाहिनी को रोका और थोड़ी देर तक युद्ध हुआ। राजपूत मौका पाते ही पहाड़ी में घुस गये। कुतुबशाह ने पहाड़ी को घेर लिया और वह भी वहीं डट गया राजपूत तो यही चाहते थे। वे पहाड़ी से निकलकर कभी बन्दूकों की एकाध बाढ़ दाग देते और फिर पहाड़ी में छिप जाते। महाराणा को अपनी सेना के घिरने की खबर लग चुकी थी और उन्होंने नागोद को जीत भी लिया था अतः वे इसी तरफ चल पड़े। नागोद की विजय के बाद वे दो चीजें वहां से लाये। पहिली तो हनूमानजी की मूर्ति और दूसरी किले का फाटक। पीछे से नागोद विजय के स्मारक स्वरूप उन्होंने कुंभलनेर के किले में इस मूर्ति की स्थापना की और फाटक भी इसी किले में लगाया। शम्स के खजाने से उन्हें सम्पत्ति भी काफी मिली थी।

महाराणा पहाड़ी के पास पहुंचे। कुतुबशाह तो घेरा ड़ाले पड़ा ही था। दोंनों सेनाओं में संग्राम शुरू हुआ। नागोद विजय से राजपूतों में काफी उत्साह था और कुतुबशाह का उत्साह ठंड़ा हो

गया था। दोनों ओर से भयंकर मारकाट होने लगी। यह देख राजपूत पहाड़ियों में से निकल आये और वे भी मुसलमानों पर टूट पड़े। राजपूतों के इस जबरदस्त आघात को सहन करना बड़ा कठिन था। मुसलमान हिम्मत हारने लगे और आखिर भाग निकले।

मालवे का शासक तो पहले ही हरा दिया गया था। अब गुजरात का सुल्तान भी हरा दिया गया। दोनों सुलतानों के दिल में ये पराजय खटकती रही। अलग-अलग लड़कर तो वे हार ही चुके थे। अब महाराणा को हराने के लिये उन्होंने साथ साथ लड़ने का निश्चय किया। दोनों की सम्मिलित सेना का बल इतना जबरदस्त हो सकता था कि उन्हें पराजय की कोई आशंका ही प्रतीत नहीं होती थी। इसके अलावा उन्होंने एक प्रचार और प्रारंभ किया उन्होंने कहा कि—'महाराणा की बढ़ती हुई शक्ति से इस्लाम खतरे में है। महाराणा ने नगोड़ा के सुलतान शम्सखाँ को पराजित करके वहाँ अधिकार कर लिया है। वे मुसलमानों और उनके राज्यों को समाप्त कर देना चाहते हैं।' उनके इस प्रचार से और भी छोटे छोटे राजा और सरदार उनके साथ हो गये। दोनों सुलतानों ने यह तय किया कि महाराणा को पराजित करके मेवाड़ को आपस में आधा-आधा बाँट लिया जाय। यहाँ तक कि कौन-से प्रदेश गुजरात के सुलतान लेंगे और कौन-से मालवा के यह भी तय कर लिया गया।

महाराणा को यह खबर मिली तो वे भी इस तूफान का सामना करने की तैयारियाँ करने लगे। इस बार मेवाड़ के जीवन-मरण का प्रश्न था। मेवाड़ के आसपास के राजाओं और जागीर-दारों को भी युद्ध का निमन्त्रण दिया गया। सबने इस निमन्त्रण को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया और वे सदल-बल चित्तौड़

आने लगे। चित्तौड़ के आसपास दूर तक सैनिक ही सैनिक दिखाई देते थे। हाथी और घोड़ों का थट्ट लग गया और सारा वातावरण लड़ाई के उत्साह से भर गया। जब सब निमन्त्रित राजा और जागीरदार आगये तो महाराणा ने दरबार किया और उसमें मुख्य मुख्य व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें सारी स्थिति समझाई। सब लोगों ने एक स्वर से कहा कि मुसलमानों ने जबर-दस्ती हमारे ऊपर आक्रमण करने की ठानी है। अतः हमारा कर्तव्य उनसे लड़ना ही हो जाता है। हम उनसे जी-जान से लड़ेंगे और उन्हें दिखा देंगे कि मेवाड़ियों के विरुद्ध उनके सारे षड़यन्त्र टूक-टूक हो जाते हैं। सब लोगों ने यह निश्चय किया कि उनके आक्रमण की प्रतीक्षा किये बिना ही आगे बढ़ जाना चाहिए। आगे बढ़ने से मेवाड़ की प्रजा पर युद्ध का कोई विशेष परिणाम न होगा। इस निश्चय के अनुसार सेना लड़ाई के लिए तैयार होने लगी। रसद और गोला-बारूद ऊंटों व गाड़ियों में लदवाया जाने लगा और हाथियों के हौदे तथा घोड़ों के जीन कसे जाने लगें। देखते ही देखते सारी सेना लड़ाई के लिए तैयार होगई। चारों और हाथी-घोड़े और सैनिक ही सैनिक दिखाई देते थे। चारों ओर उत्साह की लहर दिखाई देती थी। वीरों की बाहें फड़क रही थीं। वे महाराणा के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्योंही महाराणाजी पधारे एकलिंगजी की जय और महाराणाजी की जय से आकाश गूँज उठा। प्रस्थान के पूर्व महाराणाजी ने सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"मेवाड़ के वीरों! शत्रुओं ने आज मेवाड़ को चुनौती दी है। वे अकारण ही हमें नष्ट करने पर तुले हुए हैं। लेकिन हम मिट्टी के पुतले नहीं हैं। मेवाड़ के वीरों ने मातृभूमि के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान किया है। उनका पुराना इतिहास ही वीरता और बलिदान का इतिहास है। इस परंपरा को हमें अक्षुण्ण बनाये रखना है मुझे आपकी वीरता और

बलिदान पर पूरा विश्वास है। हमें निश्चित रूप से शत्रु को पराजित करेंगे। पहिले हमने अपने शत्रुओं को अलग अलग हराया था अब उनको एक साथ हरायेंगे। क्षत्रियों के लिये युद्ध या मृत्यु के अतिरिक्त तीसरी बात ही नहीं है। पीठ दिखाने के बजाय हम अपना सर्वस्व होम देना ज्यादा पसन्द करेंगे। आइये, हम सब स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बाजी पर लगा दें। हमें राजपूत रमणियों के दूध की परीक्षा देनी है। भगवान् एकलिंग का आशीर्वाद हमारे साथ है।"

महाराणा के इन जोशीले शब्दों ने सेना में आग उत्पन्न कर दी। महाराणा का जयघोष हुआ और वह विशाल-वीर-वाहिनी तूफान की भाँति आगे बढ़ी। इस सेना में डेढ़ हजार हाथी और एक लाख से अधिक पैदल एवं सवार थे। एक एक सैनिक स्वदेश और स्वधर्म के लिए सर्वस्व चढ़ाने को तैयार था। युद्धोत्साह में सब लोग आगे बढ़ रहे थे। उनकी व्याकुल आंखें अपने शत्रु की तलाश कर रही थीं और भुजाएं फड़क रही थीं। सेना ने मेवाड़ की सीमा पार की और मालवे की सीमा में पैर रखा। अब ढालू जमीन आई। यह ढालू जमीन भी पार की गई। इसके समाप्त होते ही एक विस्तृत मैदान दिखाई दिया। मैदान में दूर दूर तक बड़ी घनी झाड़ियाँ थीं। झाड़ियाँ इतनी सघन थीं कि उसके अन्दर कितने ही व्यक्ति छिपे रह सकते थे और किसी को पता नहीं लग सकता था। इसके आगे दो पहाड़ियां थीं जिनके बीचो-बीच रास्ता था। मालवा से मेवाड़ आने का एकमात्र यही रास्ता था। लड़ाई के लिए मोर्चाबन्दी करने का यह बड़ा ही अच्छा स्थान था। महाराणा को यह स्थिति बड़ी ही पसन्द आई। दोनों ओर की घनी झाड़ियां, एक ओर मेवाड़ की उंची चढ़ाई और एक ओर उस घाटी का संकुचित मार्ग लड़ाई के लिए बड़े उपयुक्त थे। अतः महाराणा ने यहीं पर ठहर जाने का निश्चय किया। वहीं

पर डेरा डाल दिया गया और मोर्चाबन्दी का कार्य प्रारंभ हुआ। महाराणा ने अपनी सेना को तीन भागों में विभक्त किया। एक भाग को दोनों ओर की झाड़ियों में छुपा दिया। दूसरे भाग को पहाड़ की घाटियों में इधर उधर बैठने की आज्ञा दी गई और तीसरे भाग को मैदान के सामने की ऊचाई पर खड़ा करके महाराणा शत्रु के आने की प्रतीक्षा करने लगे। महाराणा ने आज्ञा दी कि जब यवन सेना घाटी को पार करके मैदान में आ जाय और मैं भेरी बजाऊँ तब लड़ाई शुरू हो। मैं अपने सैनिकों के साथ सेना का मुकाबला करूंगा और उसे मेवाड़ की ओर बढ़ने से रोकूंगा। आस पास दोनों ओर की झाड़ियों में छिपी हुई सेना भी लड़ाई शुरू कर देगी। वह दोनों ओर से यवनों पर आक्रमण करेगी। पहाड़ की घाटियों के सैनिक चुप रहेंगे। यदि यवन सेना ने भागने का प्रयास किया तो फिर घाटी में छिपी हुई सेना उसे भागने न देगी। वहीं रोक कर उनका सफाया करना शुरू करेगी। जब सब लोगों को अपना अपना कर्तव्य मालूम हो गया तो महाराणा ने मुगल सेना का पता लगाने के लिए सलूम्बर के सरदार चूड़ावतजी को भेजा। चूड़ावतजी कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें आकाश में धूल उड़ती हुई दिखाई दी। उन्होंने सोचा यह सेना ही आ रही है। एक पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर देखा गया तो यह अनुमान ठीक निकला। मुसलमानों की विशाल सेना बढ़ती आ रही थी। चूड़ावतजी ने उसकी लम्बाई चौड़ाई से संख्या का अनुमान लगाया और महाराणा को संदेश देने के लिए लौट पड़े। उन्होंने महाराणा को सेना के आने का संदेश दिया और बताया कि थोड़ी देर बाद वह पास आ जायगी। महाराणा ने अपने सारे सैनिकों को सचेत होने का आदेश दिया। अपनी सेना के सामने उन्होंने हाथियों की पंक्ति खड़ी कर दी ताकि मुसलमान एकाएक आक्रमण न कर सके और यदि राजपूत

बढ़ना चाहें तो सरलतापूर्वक बढ़ सकें। महाराणा इतना सब कर ही चुके थे कि यवन सेना की प्रथम पंक्ति दिखाई देने लगी। घाटी को पार करके वह मैदान में आ रही थी। मुसलमान सेना ने कुछ ही दूर पर हाथियों की पंक्ति देखी अतः वह ठिठकी। सेनापति ने अपनी सेना को मैदान में फैलाया और जब सारी सेना घाटी को पार करके मैदान में आ गई तो उसे व्यूहाकार में खड़ी कर दी। मुसलमान लड़ाई के लिए तैयार हो गये। इधर राजपूत तो महाराणा के आदेश की प्रतीक्षा कर ही रहे थे। महाराणा ने भेरी बजाई और अपने सैनिकों के साथ शत्रु पर टूट पड़े। राजपूत वीरों ने एकलिंगजी की जय का उच्च घोष किया। और भूखे सिंह की भाँति झपटे। मुसलमानों ने अल्लाहो अकबर का नारा लगाया और राजपूतों से लोहा लेने को तैयार हो गये। अब क्या था? घमासान युद्ध शुरू हो गया। चारों ओर से मारो-काटो की आवाज आने लगी और लाशों पर लाशें गिरने लगी। मुसलमान बढ़ बढ़ कर मुकाबला कर रहे थे। लेकिन जब झाड़ियों में से भी गोलियाँ बरसने लगी तो उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। सामने वालों का तो वे मुकाबला कर रहे थे लेकिन झाड़ियों में से दना-दन छूटनेवाली बन्दूकों का क्या करते? बेचारे घबराने लगे। तीनों ओर की इस भयंकर मार का सामना करना बड़ा कठिन हो रहा था। मालवा और गुजरात के सुल्तान अपनी सेना को विचलित होते देख कर आगे बढ़े। उन्होंने सैनिकों को प्रोत्साहित किया और स्वयं युद्ध में जुट गये। मुसलमानों में एक जोश की लहर दौड़ी। अपने स्वामियों को आगे जाकर लड़ते देख वे भी बड़े उत्साह से लड़ने लगे। मुसलमान लड़ रहे थे लेकिन इन झाड़ियों से बरसने वाली गोलियों का उनके पास कोई इलाज न था। झाड़ियों से चलाई हुई गोलियां शत प्रतिशत कामयाब हो रही थी लेकिन मुसलमानों की गोलियों से झाड़ियों

में बैठे हुए सैनिकों का कुछ नहीं बिगड़ रहा था । यवनों की शक्ति प्रतिक्षण कम होने लगी । सामने महाराणा ने भयंकर मार-काट मचा रखी थी, उनके साथी-सरदार और वे एक एक हाथ में दो-दो तीन-तीन व्यक्तियों को काट देते थे । मुसलमान संख्या में अधिक थे और जोर-शोर से लड़ भी रहे थे लेकिन अब उनका संख्या बल कम होता जा रहा था । मरने वालों में मुस-लमानों की ही संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी ।

इस प्रकार भयंकर मार काट हो रही थी । मुसलमान गिरते जा रहे थे लेकिन वे पीछे हटने का नाम न लेते थे । एक के मरते ही दूसरा उसका स्थान ले लेता था । राजपूतों को अब यह प्रकट होने लगा कि मुसलमान जल्दी ही हार मानने वाले नहीं हैं । लेकिन राजपूत भी इतनी बात से हतोत्साह होने वाले नहीं थे । वे साहस के साथ युद्ध क्षेत्र में डट कर मुकाबला कर रहे थे । उन्होंने तो निश्चय कर लिया था कि वे पीठ न दिखायेंगे । उन्हें या तो विजयी होना था या वहीं वीरगति प्राप्त करना था । राणा ने मुसलमानों को डटे हुए देखा तो उन्हें बड़ा क्रोध आया । अपना घोड़ा बढ़ा कर वे मालवा के सुलतान के पास पहुंच गये । उन्होंने उसके महावत पर भाले का वार किया और बेचारा महावत जमीन पर आ गिरा । यह देख सुल्तान ने भी भाले का वार किया महाराणा ने बड़ी फुर्ती से इसे अपनी ढाल पर रोक लिया । महावत के मर जाने से सुलतान घोड़े पर सवार हुआ और लड़ाई करने लगा । इसी समय गुजरात का सुलतान भी उसकी मदद के लिए आ गया । मुसलमान महाराणा पर वार कर रहे थे लेकिन महाराणा सारे वार बचाते जा रहे थे और साथ ही शत्रुओं का संहार भी करते जा रहे थे । इधर आसपास की झाड़ि-यों का आक्रमण शुरू ही था । बेचारे मुसलमान सैनिक घबरा गये और भागने लगे । सबके पहिले गुजरात का सुल्तान भागा ।

राजा को भागते देख सेना के भी पैर उखड़े । जिसने जिधर मौका देखा भागने लगा । घाटी के अलावा दूसरा रास्ता ही कौनसा था जिधर भागते ? लेकिन उनके दुर्भाग्य से उधर महाराणा की सेना का तीसरा भाग उनकी प्रतीक्षा में खड़ा था । भागने वालों को इन राजपूत सैनिकों ने घेरा । बहुत से मुसलमानों ने हथियार रख दिये और जान बचाने के लिए राजपूतों की दासता स्वीकार कर ली । जिन लोगों ने अकड़ दिखाई फौरन तलवार के घाट उतार दिये गये । बेचारे मालवे के सुल्तान ने अपनी सेना को संगठित करने का खूब प्रयत्न किया लेकिन जब भागने का सिल-सिला शुरू हो गया तो कौन किसकी सुनता ? सिपाही उसके रोके न रुके । बहुत से सैनिक बन्दी बनाये गये और मरने वालों का तो पार ही नहीं था । महाराणा की भी बड़ी जबरदस्त क्षति हुई लेकिन जयमाला उनके ही गले में पड़ी । इस प्रकार मालवा और मेवाड़ की सम्मलित सेना हार गई और सुलतानों के सपने हमेशा के लिए चकना चूर हो गये ।

विजयोल्लास में आनन्दित होते हुए राजपूत वीर अपने घर लौटे । बड़ी धूम-धाम के साथ सेना ने चित्तौड़ में प्रवेश किया । जनता ने बड़े उत्साह से विजेताओं का स्वागत किया । राजपूत रमणियों ने वीरों पर पुष्प-वर्षा की और रात को दिवाली मनाई । कुछ दिनों तक चारों ओर नाचरंग और खुशी मनाई गई । मालवा और गुजरात पर इस लड़ाई का बड़ा भयंकर परिणाम हुआ । दोनों सुलतानों की शक्ति नष्ट हो गई । सुलतान खिलजी तो इतना भयभीत हुआ कि उसने फिर मेवाड़ की ओर देखा तक नहीं । सुलतान कुतुबुद्दीन इसी रंज में कुछ दिनों के बाद चल बसा । महाराणा की इस विजय ने उन्हें भारतवर्ष के अत्यन्त शक्तिशाली राजाओं की श्रेणी में ला दिया ।

महाराणा में मुसलमानों की सी धार्मिक अन्ध श्रद्धा नहीं थी ।

उन्होंने मुसलमानों की इस अन्ध-श्रद्धा का मुकाबला अवश्य किया लेकिन वे स्वयं इसके शिकार नहीं हुए। वे तो अत्याचार और अन्याय के विरोधी थे फिर चाहे अत्याचार हिन्दू करें चाहे मुसलमान। अत्याचारी को उसके पाप का कड़वा फल चखाने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। अत्याचार पीड़ित मुसलमानों को भी उन्होंने शरण दी, और अन्यायी हिन्दू राजाओं का दमन भी किया। मालवा और गुजरात की सेनाओं से युद्ध करने के कुछ ही समय बाद उन्हें समाचार मिला कि अमरगढ़ पर बूंदी के हाड़ा, भाँडा और सांडा ने अधिकार कर लिया है और मण्डलगढ़ के राजपूतों को कष्ट देना प्रारम्भ किया है। महाराणा समाचार पाते ही आगे बढ़े। उन्होंने हाड़ाओं को हराया और अमरगढ़ पर अपना कब्जा कर लिया। इस लड़ाई में हाड़ाओं के बड़े-बड़े सरदार मारे गये और वे शक्तिहीन हो गये। जब मेवाड़ी सेना ने बूंदी को चारों ओर से घेर लिया तो भाँडा और साँडा ने अपने अपराधों की क्षमा मांगी। उदार हृदय राणा ने उनको क्षमा कर दिया। केवल सैनिक व्यय लेकर ही वे लौट आये। इसी प्रकार जब सिरोही के राजा देवदास ने मेवाड़ की अधीनता छोड़कर आबू पर अधिकार कर लिया तो आपने तुरन्त सेना भेजी और उसे मेवाड़ की आधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। पीछे महाराणाजी ने आबू में एक सुन्दर सरोवर और राज-प्रासाद भी बनवाया। महाराणा गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक भी थे। जब-जब उन्हें बाहर से गोवध का समाचार मिला तब-तब वे आगे बढ़े और उसे बन्द करवाया।

यहां तक महाराणा का जीवन लड़ाइयों, विजयों और पराक्रम के कार्यों में बीता। लेकिन उनके अन्तिम दिनों की बड़ी ही दुःख भरी कहानी है। कहा जाता है कि महाराणा एक दिन एकलिंगजी के दर्शन के लिए गये। मन्दिर के द्वार पर आपने एक गाय को

जोर-जोर से रंभाते और आनन्द-विभोर होकर नाचते देखा। राणा को बड़ा कौतुहल हुआ। दर्शन करके वे कुम्भलगढ़ गये। उनके दिमाग में बार-बार यह घटना चक्कर काट रही थी। वहां भरी सभा में हाथ उठा कर वे बोले—'कामधेनु तंडव करिय'। महाराणा का इससे क्या आशय है यह बात कोई नहीं समझ पाया। आगे भी २-४ दिन तक महाराणा ने इन्हीं शब्दों को दुहराया। दरबारी बड़े हैरान थे। वे इस नतीजे पर पहुंचे कि महाराणा के दिमाग में खराबी आ गई है। लेकिन किसी का साहस न हुआ कि वह आगे आकर इसका अभिप्राय पूछे। दरबारियों ने आखिर यह काम कुंवर रायमल के सुपुर्द किया। रायमल झिझके लेकिन महाराणा की दिन-दिन बिगड़ती हुई अवस्था को देखकर उन्होंने साहस किया और उनके पास जाकर पूछा—"अन्नदाता, 'कामधेनु तण्डव करिय' से आपका क्या अभिप्राय है?" महाराणा को इस पर बड़ा क्रोध आया उन्होंने रायमल को उसी समय देश निकाला देने की आज्ञा दी।

इस घटना के कुछ ही दिन पहिले महाराणा ने राज्य के सारे चारणों को बाहर निकल जाने की आज्ञा दे दी थी। उनकी जागीरें भी जब्त कर ली गई थीं। यह सब उन्होंने एक ज्योतिषी के कहने पर किया था। ज्योतिषी ने कहा था कि—'आप एक चारण के हाथों मारे जायंगे।' लेकिन महाराणा के एक ऐसे सरदार थे जिनका नियम था कि वे बिना चारण का मुँह देखे भोजन न करते थे। अपने इस नियम के कारण सरदार ने उसे राजपूत कहकर अपने पास रख छोड़ा था। उसने सरदार से कहा यदि आप मुझे दरबार में ले चलें तो महाराणा का 'कामधेनु तंडव करिय' कहना छुड़वा दूं। सरदार ने उसे साथ ले चलना स्वीकार कर लिया।

चारण दरबार में गया। सरदार ने महाराणा से उसका परिचय कराया। महाराणा ने उसके सामने भी वे ही शब्द दुहराये। चारण ने कहा—

जद घर पर जोवती दीठ नागोर धरन्ती
गायत्री संग्रहण देख मन माहि डरन्ती
सुर कोटी तेतीस आण नीरन्ता चारों
नहि चरन्त पीवन्त मनह करती हंकारों

कुंभेण राणा हणिया कलम आजस उर डर उत्तरिय
तिण दीह द्वार शंकर तणें काम धैनु तंडव करिय

इसका भावार्थ यह था—"नागोड़ में गोहत्या देखकर कामधेनु मन में बहुत डरती थी। तैंतीस करोड़ देवता उसके लिए घांस और पानी लाते थे। लेकिन वह न चरती और न पानी पीती थी। जब महाराणा कुम्भा ने मुसलमानों को मारकार (नागौर जीतकर) गौओं की रक्षा की तभी से गौ भी शंकर के द्वार पर निर्भयता के साथ सहर्ष ताण्डव करती है।"

चारण ने इस छप्पय को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से कहा था। महाराणा तो बड़े काव्य प्रेमी थे। छप्पय के एक एक शब्द का उनके ऊपर असर हुआ। बोले—"तू राजपूत नहीं चारण है। बोल क्या चाहता है ?" चारण ने कहा—"अन्नदाता, मैं चारण ही हूँ। चाहता यह हूँ कि आप चारणों को फिर से रहने की आज्ञा दे दें और उनकी जब्त की हुई जागीरें लौटा दें।" महाराणा ने उसकी बात स्वीकार कर ली और चारणों को फिर आने की आज्ञा दे दी। उनकी जागीरें भी उन्हें लौटा दी गईं।

स्वार्थ इतनी बुरी चीज है कि इसके आधीन होकर भाई भाई को, पुत्र पिता को और पत्नी पति को छोड़ देती है। वर्षों का स्नेह, आत्मीयता और निकट के सम्बन्ध सब कुछ इसकी चिन-

गारी पड़ते ही जलने लगते हैं और देखते ही देखते स्वाहा हो जाते हैं। स्वार्थ से अन्धा व्यक्ति न भला-बुरा देखता है न ऊँच-नीच। उसे न पाप-पुण्य का ख्याल रहता है न न्याय-अन्याय का। इसी स्वार्थ ने महाराणा के बड़े पुत्र उदयकरण पर अपना जादू डाला। उदयकरण इस स्वार्थ के नशे में इतना पागल हुआ कि महाराणा के ही विरुद्ध हो गया। उसे वैभव की चाह थी लेकिन महाराणा के जीते-जी उसे वह कैसे मिलता? उसने महाराणा के जीवन का ही अन्त कर देना चाहा। महाराणा कुम्भलगढ़ में एक तालाब के किनारे बैठे थे। यह तालाब उन्होंने बनवाया था। इस समय वे भगवद्-भक्ति में मग्न थे। उन्हें सांसारिक बातों का ख्याल न था। उदयकरण ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इसे उपयुक्त अवसर समझा। उसने महाराणा के हृदय में छुरा भोंक दिया। महाराणा परलोक सिधार गये। उदयकरण के इस नीच कृत्य से नीचता भी लज्जित होती है। आज वह ऊदा हत्यारे के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। यह नीचकृत्य सन १४६८ में हुआ।

महाराणा की गणना मेवाड़ के महान शासकों में की जाती है। उन्होंने केवल मेवाड़ को सुरक्षित और सुदृढ़ ही नहीं किया, बहुत से प्रदेश भी उसमें मिलाये। स्थान स्थान पर किले बनवाये और मेवाड़ को अजेय बना दिया। उन्होंने अपने जीवन में ३२ किले बनवाये और कई तालाबों और भवनों का भी निर्माण करवाया। कितने ही पुराने क़िलों का जीर्णोद्धार भी उन्होंने करवाया। आबू पर्वत के ऊपर बना हुआ अचलगढ़ का विशाल किला उन्होंने ही बनवाया। कुम्भलगढ़ का किला तो इतिहास में प्रसिद्ध ही है। जब जब मेवाड़ के ऊपर मुसीबत आई तब राज-परिवार ने इसी किले में आश्रय लिया था। कुम्भलगढ़ और कीर्ति स्तंभ महाराणा की कीर्ति के अमिट स्मारक हैं। मालवा पर विजय पाने के उपलक्ष में यह कीर्ति स्तंभ बनवाया गया था। कीर्ति

स्तंभ की ऊँचाई १२० फीट है और इसमें नौ मंजिले हैं। महाराणा ने चित्तौड़ के सात दरवाजे भी बनवाये थे। महाराणा के बनवाये हुए मन्दिरों में जयपुर का मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है।

महाराणा केवल सेना संचालन और शासन में ही चतुर नहीं थे वे ललित कलाओं के भी प्रेमी थे। वे योद्धा तो थे ही, काव्य प्रेमी भी थे। साहित्य और संगीत के जबरदस्त ज्ञाता और विद्वान थे। वे कवि थे, नाटककार थे, संगीताचार्य थे और टीकाकार भी थे। संगीत का उन्हें इतना अच्छा और व्यापक ज्ञान था कि उन्हें अभिनव भारताचार्य के नाम से पुकारा जाता था। उन्होंने संगीतराज, संगीत मीमांसा और रसिक प्रिया नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने संगीत रत्नाकर नामक ग्रन्थ की जो टीका की है उससे उनके संगीत सम्बन्धी प्रकाण्ड पाण्डित्य का पूरा परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने कुछ नाटक भी लिखे हैं। वे वेद, शास्त्र, उपनिषद, स्मृति मीमांसा, राजनीति, व्याकरण, गणित और तर्क शास्त्र के प्रसिद्ध ज्ञाता और विद्वान थे। उनकी संस्कृत कविता बड़ी सरल स्वाभाविक और मार्मिक होती थी। स्वयं विद्वान होने के कारण वे विद्वानों का आदर भी करते थे। राज-सभा में अनेक विद्वानों और गुणी लोगों को आश्रय दिया गया था। वे पुरस्कार, जागीर आदि के द्वारा उन्हें प्रोत्साहित करते रहते थे।

इस प्रकार महाराणा एक अद्वितीय व्यक्ति थे। वे सैनिक थे, साधक थे, साहित्यिक थे और थे एक सफल शासक। उनके समय में मेवाड़ की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। उन्होंने अपनी वीरता से शत्रुओं के दांत खट्टे किये और आस-पास दूर-दूर तक अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। अपनी कला प्रियता से विद्वानों का आदर किया, कला की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया और सुन्दर शासन व्यवस्था से प्रजा को सुखी और संपन्न बनाया। एक ही व्यक्ति में इतने गुण सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है।

महाराणा संग्रामसिंह

लसत जासु पवि देह पर असी घाव की छाप ।
सो सांगा निज सांग से दले न का को दाप ।।
हे राणा सांगा तुही रण में मरद मलाह ।
किते न खांड़े घांट ते दिये उतारि गुमराह ।।

—*वियोगी हरि*

चित्तौड़ के राज-महलों में महाराणा रायमल के तीनों पुत्र राजकुमार पृथ्वीराज, संग्रामसिंह और जयमल शांत और गम्भीर मुद्रा में बैठे हुए थे। सामने ही राज-ज्योतिषि बैठे हुए उनकी जन्म-कुण्डली देख रहे थे। राजकुमारों की आंखों में उत्सुकता भरी हुई थी। वे अपना-अपना भविष्य जानने के लिए व्याकुल हो रहे थे। ज्योतिषिजी ने अपना सिर ऊँचा किया और राजकुमारों की आंखें उनके मुँह पर गड़ गईं। उत्सुकता चरम सीमा पर पहुँच गई। जोतिषीजी ने कहा—"मेवाड़ के महाराणा तो राजकुमार संग्राम-सिंह ही बनेंगे।" ज्योतिषीजी की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि राजकुमार पृथ्वीराज की तलवार म्यान से निकल पड़ी। ईर्ष्या और क्रोध में मतवाले राजकुमार ने संग्रामसिंह पर जोर का प्रहार किया। संग्रामसिंह बचे तो लेकिन चोट आंखों में लगी और उनकी एक आंख हमेशा के लिए बन्द हो गई। इसी समय चाचा सारंगदेव आ पहुँचे। उन्होंने सबको समझाया-बुझाया और शांत किया।

संग्रामसिंह महाराणा रायमल के पुत्र और महाराणा कुम्भा के पौत्र थे। महाराणा रायमल ने ११ विवाह किये थे। उनकी १४ संतान थी। सबसे बड़े पुत्र थे पृथ्वीराज। द्वितीय जयमल और तृतीय संग्रामसिंह। पृथ्वीराज बड़े तो थे ही लेकिन वे बड़े वीर, साहसी और निर्भय थे। उनका जन्म ही मानों युद्ध करने के लिए हुआ था। वे रणभूमि में ही सुखी रहते थे। उनकी वीरता की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गई थी। वे कहा करते थे कि—"चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर बैठने के योग्य तो मैं ही हूँ।" संग्रामसिंह भी बड़े वीर थे लेकिन उनका साहस विचारयुक्त था। वीरता के साथ ही उनमें सहनशीलता भी थी। वे बड़े उदार और तेजस्वी थे। जयमल में बड़े भाई की उत्तेजना और छोटे भाई की उदारता नहीं थी। वे जानते थे कि बड़े भाई के होते हुए उन्हें राज सिंहासन नहीं मिल सकता।

भाइयों में वैमनस्य और राजलिप्सा घर कर चुकी थी, मनोमालिन्य बढ़ रहा था। चाचा सारंगदेव की उपस्थिति में एक दिन यह निर्णय हुआ कि भीमल के मन्दिर की चारणी के पास जाकर इस प्रश्न को हल कर लिया जाय। तीनों भाई और चौथे चाचा सारंगमल घोड़े पर सवार होकर मन्दिर की ओर चल पड़े। दूर पहाड़ी पर देवी का मन्दिर था। अपने घोड़ो को दौड़ाते हुए वे मन्दिर के पास जा पहुंचे। घोड़ों से उतर कर वे पहाड़ी पर चढ़े और मन्दिर में पहुँच गये। मन्दिर में चारणी के अतिरिक्त और कोई न था। सबसे पहले पृथ्वीराज और जयमल ने प्रवेश किया और वे एक पट्टे पर बैठ गये। इनके बाद संग्रामसिंह ने प्रवेश किया और चारणी के व्याघ्र-चर्म पर बैठ गये। चाचा सारंगमल भी उनके पास ही अपना एक घुटना टेक कर बैठ गये। चारणी ने उनके आने का प्रयोजन पूछा और संग्रामसिंह की ओर संकेत करते हुए कहा—"सिंहासन के स्वामी ये ही होंगे।" देखते ही

देखते तलवारें खिच गईं। आराधना का मन्दिर रणक्षेत्र बन गया।" पृथ्वीराज और जयमल चाचा सारंगदेव और भाई संग्रामसिंह पर टूट पड़े। चारणी भयभीत होकर भाग गई; युद्ध प्रारम्भ हो गया। मन्दिर में रक्त की धारा बहने लगी। चाचा सारंगदेव और पृथ्वीराज घायल होकर गिर पड़े और संग्रामसिंह भाग निकले। जयमल उनका पीछा करने के लिए दौड़े। खून से लथपथ राजकुमार संग्रामसिंह भागते जा रहे थे। राठोड़ वीर बींदा ने इनको इस अवस्था में देखा। उसने उन्हें घोड़े से उतारा और अपने घर ले जाकर इनके घावों पर मरहम पट्टी की। मरहम पट्टी हो ही रही थी कि राजकुमार जयमल आ पहुँचे। उनके साथ कुछ साथी भी थे। उन्होंने बींदा से संग्रामसिंह को मांगा। राठोड़ वीर धर्म-संकट में पड़ गया। उसकी परीक्षा का समय था। उसने धर्म का रास्ता ही अपनाया और सच्चे वीर की भांति राजकुमार को उसके प्राणों के गाहकों को सौपने से इन्कार कर दिया। उसने अपना घोड़ा देकर संग्रामसिंह को गोड़वाड़ की ओर रवाना कर दिया और स्वयं लड़ने-मरने को तैयार हो गया। युद्ध हुआ और वीरवर बींदा अपने राजपूत सैनिकों के साथ हमेशा के लिए रणक्षेत्र में सो गया। राठोड़ वीर बींदा लड़ते-लड़ते मर गया लेकिन वह मर कर भी अमर है। उसकी पराजय विजय से भी ज्यादा गौरवशाली थी। ऐसे ही व्यक्ति वीर-शिरोमणि और वीरों में अग्रगण्य माने जाते हैं जो शरणागत की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। राजपूत जाति का इतिहास इसी प्रकार के वीर पुरुषों की उदारता और तेजस्विता से जगमग है। संग्रामसिंह इधर-उधर भागते हुए मारवाड़ पहुँचे। उन्होंने कुछ दिन ग्वालों के साथ बिताये। इसके बाद वे अजमेर की ओर आये। यहां उन्होंने एक घोड़ा और कुछ शस्त्र खरीदे और श्रीनगर के राजा कर्मचन्द्र के यहां नौकरी करने लगे। श्रीनगर अजमेर से ५ कोस के अन्तर

पर परमारों की राजधानी थी । कर्मचन्द के पास दो-तीन हजार राजपूत थे जिनकी सहायता से वह इधर-उधर लूट-मार और उपद्रव किया करता था। इसी प्रकार के एक आक्रमण से जब संग्रामसिंह लौटे तो वे एक वट-वृक्ष की छाह में विश्राम लेने के लिए उतर पड़े। उन्होंने अपना जीनपोश जमीन पर बिछाया और लेट गये। वे काफी थके हुए थे अतः जल्दी ही निद्रा-देवी की गोद में मग्न हो गये । पत्तों से सूर्य की एक किरण उनके मुँह पर पड़ रही थी। यह देखकर एक सर्प ने अपनी फन फैलाकर उस किरण को रोक लिया और राणा के मुँह पर छाया करके अपने फन फैलाये हुए वह खड़ा रहा । इसी समय एक पक्षी सर्प के फन पर बैठकर उच्च स्वर में चहचहाने लगा । यह दृश्य बड़ा ही सुन्दर और शुभ-शकुन का सूचक था । जयसिंह बालेचा और जाना-सिंघल नामक दो राजपुत्र उधर से गुजरे । इस दृश्य को देखकर वे चकित हो गये। उन्होंने अपने नेता कर्मचन्द को इसकी सूचना दी और कहा कि यह कोई बड़ा आदमी है । अब तः कर्मचन्द ने उनके साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया।

महाराणा रायमल को जब मन्दिर के युद्ध का समाचार मिला तो वे बहुत दुखी हुए। उन्होंने पृथ्वीराज को कहला भेजा कि अब उन्हें अपना मुँह न दिखलाये। अपने पांच सवारों के साथ पृथ्वीराज ने मेवाड़ से बिदा मांगी और वे कुंभलगढ़ को ओर चले गये।

संग्रामसिंह के बारे में कोई समाचार मालूम नहीं थे और पृथ्वीराज निर्वासित कर दिये गए थे अतः जयमल ही उत्तराधिकारी समझे जाने लगे। बदनौर के राव सुरतान की बेटी ताराबाई के सौंदर्य की प्रशंसा जयमल ने सुनी। वह उसे प्राप्त करने के लिये लालायित हो उठा। ताराबाई सोलंकी राव सुरतान की एकमात्र कन्या थी। राव सुरतान टोडा का स्वामी था लेकिन लल्लाखाँ

पठान से पराजित होकर उसे अपना राज्य छोड़ना पड़ा था। इस मुसीबत में महाराणा रायमल ने उसे बदनौर की जागीरी देकर अपने आश्रय में रख लिया था। ताराबाई सुन्दरी तो थी ही वीर भी थी। उसे घर के काम काज में दिलचस्पी नहीं थी। घोड़े पर बैठना, तीर चलाना और कसरत करना उसे बड़ा प्रिय था। दौड़ते हुए घोड़े पर बैठे बैठे भी वह ऐसा निशाना लगाती थी कि कभी चूकता नहीं था। जयमल ने विवाह का प्रस्ताव भेजा और उसे देखने की इच्छा प्रकट की। राव सुरतान ने उत्तर दिया कि राजपूतों की लड़कियाँ दिखाई नहीं जातीं। जयमल को बड़ा बुरा लगा। उसने एक सेना के साथ बदनौर पर आक्रमण कर दिया। राव सुरतान ने मेवाड़ के राजकुमार से युद्ध करना उचित न समझा और वह सपरिवार बदनौर से चल दिया। जयमल ने उसका पीछा किया। जब राव सुरतान के भाई रत्नसिंह ने मशालों के प्रकाश में देखा कि जयमल उसका पीछा करता हुआ आ रहा है तो उसे बड़ा क्रोध आया। बोला—"अच्छा जयमल ताराबाई को जबरदस्ती छीनना चाहता है। मैं देखता हूँ कि वह कितना वीर है।" इतना कहकर वह अकेला ही अपने घोड़े को मोड़ कर जयमल के सामने जा पहुँचा। बोला—"राजकुमार, रत्नसिंह का अभिवादन स्वीकार हो।" इन शब्दों के साथ ही उसने अपना भाला जयमल पर चलाया और जयमल आहत होकर रथ से नीचे गिर गया। देखते ही देखते उसके प्राण पखेरू उड़ गये और रत्नसिंह भी युद्ध करते करते मारा गया। महाराणा रायमल को जब यह समाचार मिला तो उन्हें कोई दुःख नहीं हुआ बोले —"जिसने अपने पिता की प्रतिष्ठा का कोई ख्याल नहीं किया उसकी दशा यह उचित ही है।"

जब यह समाचार पृथ्वीराज को मिला तो उसने सोचा अब मेवाड़ का राजसिंहासन प्राप्त करने का अच्छा मौका आ गया

हैं। ताराबाई के रूप लावण्य की प्रशंसा वह भी सुन चुका था, अतः उसने भी अपने विवाह का प्रस्ताव राव सुरतान से किया। उसने उत्तर दिया—"मैं तारा का विवाह उसीसे करूंगा जो मेरे राज्य को पठानों से मुक्त करने का वचन देगा।" पृथ्वीराज का जन्म ही लड़ने के लिए हुआ था। उसके लिए यह कोई कठिन काम नहीं था। उसने वचन दे दिया और ताराबाई के साथ उसका विवाह हो गया।

अली के शहीद पुत्रों की बरसी का दिन आक्रमण के लिए चुना गया। पृथ्वीराज ने केवल चुने हुए ५०० सवार अपने साथ लिये और वे ठीक उसी समय टोड़ा पहुंचे जब ताजिया बीच चौक में रखा गया था। पृथ्वीराज ताराबाई तथा अपने एक विश्वस्त सैनिक के साथ सेना को बाहर छोड़कर नगर के अन्दर पहुंच गये। अफगान सरदार के झरोखे के नीचे से जुलूस निकल रहा था और वह कपड़े बदल कर नीचे आना चाहता था। उसने इन लोगों को देख कर पूछा "भीड़ में ये अपरिचित सवार कौन हैं।" लेकिन उसकी बात समाप्त होते न होते ही पृथ्वीराज के भाले और ताराबाई के तीर ने उसका काम तमाम कर दिया। बेचारा आँगन में आ गिरा। शहर में भगदड़ मच गई। वे लोग सचेत होकर लड़ाई के लिए तैयार हों तब तक तो ये नगर द्वार के पास आ पहुंचे। उन्होंने देखा कि एक हाथी उनका रास्ता रोके हुए खड़ा है। ताराबाई ने तलवार से उसकी सूंड काट दी और उसे भगा दिया। पृथ्वीराज और ताराबाई अपनी सेना से जा मिले। पठान लड़े लेकिन हार गये। ताराबाई ने इस युद्ध में जो वीरता दिखाई वह चिरस्मरणीय है। ताराबाई जैसी स्त्रियों ने ही राजपूत जाति एवं भारतीय महिलाओं का मस्तक ऊंचा किया है। उसके सामने किसका मस्तक श्रद्धा और भक्ति से न झुकेगा।

टोड़ा विजय के बाद पृथ्वीराज कुंभलगढ़ गये और वहां ताराबाई के साथ वैवाहिक सुख का उपभोग करते रहे। ज्यादा समय नहीं होने पाया था कि उन्हें मेवाड़ पर चाचा सूरजमल के आक्रमण का समाचार मिला। वे अपनी सेना के साथ पहुँचे। लड़ाई बहुत दिनों तक होती रही आखिर सूरजमल को खदेड़ कर ही उन्होंने चैन लिया। लेकिन वे इसके बाद ज्यादा दिन तक जीवित न रहे। उनकी बहिन राजकुमारी आनन्दी बाई का विवाह सिरोही नरेश से हुआ था। वे उसे बहुत कष्ट देते थे। बहिन की कष्ट कथा सुनकर वे सिरोही पहुँचे। सिरोही नरेश गिड़गिड़ाये और उनसे क्षमा मांगी। जब पृथ्वीराज लौटने लगे तो उन्होंने उन्हें विष की गोलियां दी और कहा कि यह एक लाभदायक औषधि है। किसी समय आजमाइये।" कुँभलनेर पास आ जाने पर पृथ्वीराज इन गोलियों को खा गये। जहर इतना तेज था कि वे मामादेव के मन्दिर से आगे नहीं बढ़ सके। उन्होंने ताराबाई के पास संदेश भेजा लेकिन उसके आने के पहले ही वह अद्भूत वीर इस संसार से चल बसा। ताराबाई ने वहीं चिता बनाई और पृथ्वीराज के शव के साथ जल कर परलोक सिधार गई। कुम्भलगढ़ में आज भी उनकी छतरी बनी हुई है।

संग्रामसिंह को जब यह खबर मिली कि पृथ्वीराज चल बसे तो वे प्रकट हुए। उन्हें पाकर महाराणा रायमल का हृदय प्रफुल्लित होगया। पृथ्वीराज की मृत्यु से उनको बड़ा धक्का लगा था। अपने वीर पुत्रों की मृत्यु से वे इतने दुःखी हुए थे कि फिर किसी ने उनके मुँह पर आनन्द की रेखा नहीं देखी। इसी रंज में वे बीमार हुए और अन्त में उनका स्वर्गवास हो गया। जेष्ठ शुक्ल ५ सं. १५६६ (४ मई १५०९) को महाराणा संग्रामसिंह का चित्तौड़ में राज्याभिषेक हुआ। इस समय इनकी अवस्था २७ वर्ष

की थी। श्री हरविलासजी शारदा के अनुसार उनका जन्म वैसाख कृष्ण ९ सं १५३९ में हुआ था।

राजसिंहासन पर बैठते ही महाराणा ने अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ किया। अभी तक मेवाड़ गृह युद्ध का अखाड़ा बना हुआ था अतः उसकी शक्ति काफी क्षीण हो गई थी। बहुत से सामन्त मेवाड़ की आधीनता छोड़कर स्वतंत्र हो गये थे और आन्तरिक प्रवन्ध भी बिगड़ा हुआ था। महाराणा मेवाड़ की शक्ति को संगठित करने के काम में जुट गये। थोड़े ही समय में उन्होंने मेवाड़ की विजय-वैजयन्ती दूर-दूर तक फहरा दी।

महाराणा के राज्य का विस्तार हो रहा था। जयपुर, जोधपुर ग्वालियर, अजमेर, बूंदी, कालपी, ईडर, तथा अन्य रियासतों के राजा उनकी आधीनता स्वीकार कर चुके थे। अब उनकी सीमाएं दक्षिण में गुजरात से उत्तर में दिल्ली से और पूर्व में मालवे से छूने लगी थीं। इस समय दिल्ली के सिंहासन पर सुलतान सिकन्दर लोदी विराजमान थे। मालवे में नासिरशाह खिलजी और गुजरात में महमूदशाह राज्य कर रहे थे। थोड़े ही दिन शांति से न बीते थे कि उनका गुजरात के सुलतान से वैमनस्य हो गया। महाराणा ने लड़ाई की तैयरियां शुरु कर दीं। वीरवर कानसिंह के सेनापतित्व में एक अच्छी सी सेना अहमदनगर के किले पर आक्रमण करने के लिए भेज दी गई।

सेना अहमदनगर पहुँची और लड़ाई आरंभ हो गई। अहमदनगर का किला इतिहास में प्रसिद्ध है। सुलतान इसके लिए तैयार था, अतः खूब जमकर लड़ाई हुई। सुलतान के सैनिक भयंकर गोलाबारी कर रहे थे। अनेकों वीर हताहत हुए लेकिन आखिर मेवाड़ की सेना आगे बढती ही गई। वह किले के फाटक तक पहुँच गई। लेकिन अब किले का फाटक तोड़ना था।

फाटक बड़ा मजबूत था। उसमें सामने भाले लगे हुए थे। कान-सिंह ने हाथी को आगे बढ़ाकर उससे फाटक को तुड़वाना चाहा। लेकिन तीक्ष्ण भालों के कारण वह भयभीत हो जाता था। महावत ने बहुतेरा प्रयत्न किया लेकिन बार-बार हाथी पीछे हट गया। इधर दुर्ग पर से भयंकर गोलाबारी हो रही थी जिसमें सैकड़ों मेवाड़ी हताहत होते जा रहे थे। एक एक क्षण की देर के लिए कई वीरों के जीवन का मूल्य चुकाना पड़ता था। वीरवर कान-सिंह आगे बढ़ा और भालों के सामने खड़ा होकर बोला—'हाथी आगे बढ़ाओ'। कानसिंह के आगे आजाने से हाथी को भाले दिखाई नहीं दिए। उसने कानसिंह को जोर की टक्कर दी। कानसिंह का शरीर भालों से छिदकर चलनी हो गया लेकिन फाटक टूट गया। सेनापति के अपूर्व बलिदान से सेना में उत्साह की लहर दौड़ गई। सब ने अपने जीवन की बाजी लगाकर युद्ध किया। जो अपना सर्वस्व होम देने के लिए तैयार हो जाता है उसमें अपार शक्ति आ जाती है। मेवाड़ियों की इस जबरदस्त शक्ति का मुकाबला सुलतान के सैनिक कहां तक करते? बेचारे भाग खड़े हुए और मेवाड़ की विजय पताका किले पर फहरा दी गई। कानसिंह का बलिदान इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। स्वतंत्रता के पुजारियों को कानसिंह के अभूतपूर्व बलिदान और आत्म त्याग से सदैव प्रेरणा मिलती रहेगी। ऐसे वीर मरकर भी अमर हो जाते हैं!

गुजरात के बाद दिल्ली की बारी आई। इस समय सिकन्दर लोदी की मृत्यु हो गई थी और उसका पुत्र इब्राहीम लोदी सिंहा-सन पर विराजमान था। उसने देखा कि महाराणा की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और वे नये-नये प्रदेश अपने अधिकार में करते जा रहे हैं। उसने ज्यादा देर करना उचित नहीं समझा। सिंहासन पर बैठते ही एक विशाल सेना लेकर मेवाड़ की ओर

चल पड़ा। महाराणा ने उसकी चुनौती स्वीकार की और अपनी सेना के साथ आगे बढ़ आये। खातोली के रणक्षेत्र में तत्कालीन दो बड़ी शक्तियों में युद्ध प्रारम्भ हो गया। तीन घन्टे तक भयंकर लड़ाई हुई। यह युद्ध मेवाड़ियों के लिए जीवन मरण का युद्ध था। इसकी हार का अर्थ था मेवाड़ की परतन्त्रता। और परतन्त्रता राजपूतों के लिए मृत्यु से भी बुरी थी। सब अपनी जननी जन्मभूमि की रक्षा के लिए, स्वतन्त्रतादेवी की उपासना करते हुए महाराणा के नेतृत्व में जूझने लगे। स्वयं महाराणा भी जीजान से लड़ रहे थे उन्होंने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। वीर राजपूतों की दृढ़ता और शौर्य के सामने इब्राहीम लोदी की सेना ठहर न सकी। तीन घन्टों की लड़ाई के बाद ही उसके पैर उखड़ गये। सुलतान भागा और उसका एक शाहजादा कैद कर लिया गया। परतन्त्रता के बादल राजपूतों के शौर्य से टकराकर चूर चूर हो गये। महाराणा को इस विजय की कीमत के रूप में अपना एक पैर और एक हाथ देना पड़ा।

महाराणा का जन्म तो मानो शान्तिपूर्वक राज्य करने के लिए हुआ ही नहीं था। उनका जीवन लड़ते-लड़ते ही बीता। इस लड़ाई को ज्यादा समय नहीं हुआ कि इस पराजय का बदला लेने के लिए उसने फिर से अपनी एक बड़ी सेना चित्तौड़ की ओर भेज दी। महाराणा फिर आगे बढ़े। धौलपुर के निकट एकबार फिर दिल्लीपति की सेना से राजपूतों की मुठभेड़ हुई। भयंकर युद्ध हुआ। महाराणा के रणकौशल से शत्रु भी स्तंभित रह गये और मुँह की खाकर भाग गये। मातृभूमि के लिए बलिदान होने वालों के सामने वैतनिक सिपाही कहां तक ठहर सकते हैं?

गुजरात और दिल्ली के सुलतानों को हरा देने पर भी महाराणा को शान्ति नसीब नहीं हुई। गुजरात और मालवा के सुल-

तानों ने सम्मिलित होकर मेवाड़ को कुचल देने की तैयारी की। दोनों की सम्मिलित सेनाएं समुद्र की उत्ताल तरंगों की तरह बढ़ती हुई आईं। इतनी बड़ी बड़ी लड़ाइयों के बाद फिर उतनी ही बड़ी लड़ाई लड़ना बड़ा कठिन था। महाराणा जानते थे कि मेवाड़ के शत्रु उसके विध्वंस पर तुले हुए हैं। विपत्ति के बादल मंडरा रहे हैं। लेकिन बड़ी से बड़ी मुसीबत के समय भी घबराना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। उन्होंने तो आगे बढ़कर अपना सर्वस्व बाजी पर लगा देना सीखा था। जल्दी ही युद्ध की तैयारी करके ५० हजार वीरों के साथ चल पड़े। गनगोर के युद्ध-क्षेत्र में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। भयंकर लड़ाई होने लगी। एक आँख, एक हाथ और एक पैर वाले महाराणा ने इस बार जो वीरता दिखाई वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। दोनों सेनाएं एक दूसरे की शक्ति से परिचित थीं। वे मरने-मारने का संकल्प करके ही लड़ाई के लिए आई थीं। बड़ी भयंकर लड़ाई हुई। मालवे के तीस सरदार सदा के लिए रणक्षेत्र में सो गये और गुजरात की तो प्रायः सारी सेना धराशायी हुई। स्वयं सुलतान महमूद बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार अपने शत्रु को बुरी तरह पराजित करके मेवाड़ की विजय वैजयन्ती फहराते हुए वे चित्तौड़ लौट आये।

महाराणा की वीरता सच्ची वीरता थी। कपट अर कूटनीति के लिए उनके पास कोई स्थान नहीं था। वे एक सच्चे राजपूत थे। सुलतान महमूद तीन मास तक उनकी कैद में रहा। लेकिन उन्होंने उसे न तो मरवाया न उसके साथ कोई अपमानजनक व्यवहार ही किया। एकबार सुबह के समय सुलतान महाराणा का अभिवादन करने को आया। महाराणा ने उसे एक सुन्दर सा गुलदस्ता देना चाहा। सुलतान बोला—"महाराणाजी, मैं आपका बन्दी हूँ लेकिन हाथ पसारकर इस तुच्छ वस्तु के लिए भिक्षा नहीं

माँगूगा।" महाराणा 'आसुतोष अवढ़र दानी' की भाँति बोले— "आओ महमूद ! मैं तुम्हें तुम्हारा आधा राज्य भी इसके साथ देता हूँ।" सुलतान ने गुलदस्ता ले लिया और महाराणा ने दूसरे ही दिन महमूद को मुक्त करके मालवा भिजवा दिया। यह है उनकी महानता और उदार हृदयता का नमूना। महाराणा के इस कार्य की प्रशंसा मुसलमान इतिहासकारों ने भी मुक्त कण्ठ से की है। राजनैतिक दृष्टि से यह ठीक नहीं था। आगे चलकर यह मेवाड़ के लिए हानिकारक ही सिद्ध हुआ लेकिन यह एक सच्चे राजपूत की उदारता और मानवता के उच्च गुणों का प्रतीक है। इस कार्य से उनका गौरव और महानता और भी बढ़ जाते हैं।

महाराणा अभी इस लड़ाई से पूरी तरह निश्चिन्त नहीं हुए थे कि उन्हें फिर लड़ाई के लिए तैयार होना पड़ा। गुजरात का सुलतान मुजफ्फर अहमदनगर की हार को भूला नहीं था। उसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही थी। वह चाहता था कि जिस तरह अहमदनगर बर्बाद किया गया उसी तरह वह भी चित्तोड़को नष्ट-भ्रष्ट कर दे। वह महाराणा की शक्ति को भली भाँति जानता था अतः उसने काफी तैयारियाँ की। सैनिकों को पहले ही एक वर्ष का वेतन दे दिया और उनसे कहा कि चित्तौड़ विजय के बाद उनको और भी अधिक ईनाम दिया जायगा। जब चित्तौड़ के ऊपर आक्रमण करने का समाचार मिला तो सौराष्ट्र का हाकिम मलिक अयाज अपनी २० हजार सेना के साथ आया। उसने सुल्तान के सामने बड़ी बड़ी बातें कहीं। बोला— यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं महाराणा को बन्दी करके आपकी सेवा में उपस्थित कर सकता हूँ।" उसकी गर्वोक्तियों से सुल्तान बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उसे अपनी एक लाख सेना का सेनापति बनाया और आक्रमण करने के लिए चित्तौड़ भेज दिया। गुजरात की इस बढ़ती हुई शक्ति को देख कर मालवा के सुल्तान

महमूद ने भी इसे अच्छा मौका समझा। अपनी पराजय और अपमान का बदला लेने के लिए वह भी गुजरात की सेना से आ मिला। यह सुल्तान वही था जिसे महाराणा ने जीवन-दान ही नहीं आधा राज्य भी दिया था और जिसके साथ बन्दी होते हुए भी अच्छा व्यवहार किया था। उसके इस नीच कृत्य से कृतघ्नता भी लज्जित हो रही थी। लेकिन महाराणा ने तो दुखी या भयभीत होना सीखा ही न था। वे अपनी सेना के साथ आगे बढ़े और मन्दसौर के मैदान में फिर सगुजरात और मालवे की सेनाओं का मुकाबला किया।

राजपूतों की वीरता के सामने सुल्तानों की सेनाएं ठहर न सकीं। इस बार फिर उसके पैर उखड़े और वह मुँह की खाकर भाग गईं। इस युद्ध के बाद तो गुजरात पर महाराणा का इतना जबरदस्तआतंक फैल गया कि आगे सुल्तान के प्रयत्न करने पर भी सेना चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए तैयार नहीं हुई। राजपूतों की भयंकर मार से लोग काफी आतंकित हो गये। महाराणा गुजरात और मालवे की ओर से निश्चिंत हुए। लेकिन अभी लड़ाइयों का अन्त नहीं हुआ था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि उन दिनों दिल्ली के तख्त पर इब्राहीमखां लोदी विराजमान था। वह शक्तिहीन शासक था। बहुत से सूबेदार उसकी अधीनता से निकल कर स्वतंत्र होते जा रहे थे। इन दिनों बाबर ने काबुल पर अधिकार कर लिया था। लोदीवंश की शक्तिहीनता के समाचार पाकर उसने अपनी दृष्टि भारतवर्ष पर डाली और इस समृद्धशाली देश को लेने के लिए लालायित हो उठा। लोदीवंश की नींव हिल ही चुकी थी। वह तो अब एक ही प्रहार से धूल-धूसरित होने की प्रतीक्षा कर रहा था। इब्राहीम के विद्रोही सरदार बाबर को आक्रमण का निमंत्रण भी दे रहे थे। फिर भला वह ऐसे स्वर्ण अवसर को कैसे छोड़ता। अपने

वीर सैनिकों के साथ हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। पानीपत के मैदान में लड़ाई हुई। इब्राहीम लोदी बुरी तरह हारा और दिल्ली के तख्त पर बाबर का अधिकार हो गया। उसने आगरा एवं उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। अब बाबर ने अपनी दृष्टि चारों ओर डाली। उसे यह जानते हुए देर नहीं लगी कि महाराणा संग्रामसिंह ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं। उनको पराजित किये बिना वह शान्ति के साथ राज्य नहीं कर सकता। महाराणा को पराजित करके ही वह निष्कण्टक रह सकता था। उसने महाराणा से लड़ने का निश्चय किया। इधर महाराणा भी उसकी शक्ति और वीरता से परिचित हो गये थे। वे जानते थे कि बाबर से इस बार जो लड़ाई होगी उसके बहुत बड़े परिणाम होंगे। यह युद्ध राजस्थान ही नहीं भारतवर्ष की स्वतंत्रता का युद्ध होगा। अतः वे अपनी सेना के साथ युद्ध के लिए चल पड़े। इधर जब बाबर ने देहली में ही रहने का निश्चय किया तो अफगान सरदारों की आंख खुली। वे समझते थे कि वह लूट-मार करके चला जायगा और देहली के तख्त पर वे लोग अपना अधिकार जमा सकेंगे। लेकिन अपनी इस कल्पना के विरुद्ध बाबर के यहीं रहने के निर्णय से वे भी चौकन्ने हुए। उनमें से कुछ सरदार महाराणा के पास आये। उनको भी साथ लेकर महाराणा आगे बढ़े और खंडार विजय करते हुए बयाना के पास आ गये। यहां बाबर की सेनाएं तैयार खड़ी थीं। राजपूतों से तुर्कों की मुठभेड़ हुई। अब तक बाबर के सैनिक राजपूतों के बारे में सुनते ही आये थे अब उन्होंने उन्हें लड़ते हुए देखा। स्वयं बाबर ने अपनी दिन-चर्या में लिखा है कि—"थोड़ी देर के युद्ध में ही हमारी सेना भाग खड़ी हुई। संगारखां मारा गया और किताबबेग भावी युद्ध के लिए बेकार हो गया। भाग कर आये हुए मंसूर ने राजपूतों के पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की।"

महाराणा की सेनाएँ तुर्कों को चीरती हुई बढ़ी आ रही थी। बाबर ने देखा कि अब देर करने से काम नहीं चलेगा अतः वह अपनी सेना के साथ सीकरी के मैदान में आ गया। बाबर का प्रधान सेनापति अब्दुल अजीज खानवा की ओर बढ़ा। महाराणा ने उस पर आक्रमण कर दिया। बाबर ने इस आक्रमण का समाचार पाते ही एक बड़ी सेना उसकी सहायता के लिए भेजी। बड़ी भयंकर लड़ाई हुई। खानवा की यह लड़ाई इतिहास में प्रसिद्ध है। स्वयं बाबर भी राजपूतों की वीरता से चकित हो गया। उसने स्वयं राजपूतों की वीरता की प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहास लेखक लेनपूल ने लिखा है—"देश प्रेम के मतवाले राजपूतों ने प्राणों की परवाह न करके जो अभूतपूर्व वीरता दिखाई वह बाबर के असभ्य जंगली सिपाहियों के ध्यान में भी नहीं आ सकती थी। बाबर के सैनिक राजपूतों के रण कौशल से चकित होगये। उन्होंने देखा कि राजपूत अपने देश के लिए लड़ते लड़ते मर जाने में गौरव अनुभव करते हैं। खानवा की लड़ाई में देखते ही देखते बहुत से तुर्क राजपूतों की तलवारों से कट गये और जो बचे वे भाग खड़े हुए। बाबर के पूछने पर एक भागे हुए सैनिक ने कहा—"जहाँपनाह, राजपूत बला की जाति है उससे लड़ना बड़ा कठिन है। हमारे वीर सैनिकों ने न जाने कितनी बार अपनी तलवार के बल पर विजय प्राप्त की लेकिन वीर राजपूतों के सामने उनके होंश उड़ गये। राजपूत अपनी जान देना एक खेल समझते हैं।"

इस समाचार से सारी तुर्क सेना आतंकित हो गई। बाबर स्वयं भी भयभीत हो गया। लेकिन वह वीर था। एक बार फिर अपने भाग्य की परीक्षा कर लेना चाहता था। खानवा के युद्ध में राजपूतों ने बाबर के बहुत से आदमी मार डाले थे और कुछ बन्दी भी किये थे। राजपूतों ने बाबर की सेना का दो मील तक पीछा किया,

था। महाराणा की सेना विद्युत वेग से बढ़ती आ रही थी। अब अब्दुल अजीज की पराजय से उसका रहा सहा साहस भी जाता रहा। एर्सकिन ने लिखा है—"बाबर की सेना निराश और भय की अन्तिम सीमा तक पहुँच गई थी। उसके बड़े बड़े अफसर भी इस छूत से नहीं बचे थे"। बाबर ने स्वयं अपनी दिनचर्या में लिखा है "इस समय पहिले की घटनाओं से क्या छोटे क्या बड़े सभी भयभीत और हतोत्साह हो रहे थे। एक भी आदमी ऐसा नहीं था जो बहादुरी की बात कहता या हिम्मत की सलाह देता। वजीर जिनका कर्तव्य ही नेक सलाह देना था और अमीर जो राज्य की संपति भोगते थे, एक भी वीरता-पूर्ण बात नहीं कहते थे और न उनकी सलाह या बर्ताव ऐसे थे जो दृढ़ मनुष्यों के योग्य हों।"

जब मनुष्य विपत्ति में होता है तब उसे ईश्वर की याद आती है। बाबर को भी ईश्वर की याद आई। उसे ख्याल आया कि मैंने बहुत से पाप किये हैं और बहुत सी बातें कुरान के विरुद्ध की हैं। अपने पापों के लिए उसने ईश्वर से क्षमा मांगी और शपथ ली कि मैं आज से मदिरा का सेवन नहीं करूंगा। उसने शराबों के प्याले तुड़वा दिये और बहुत-सा सोने-चांदी का सामान गरीबों को बांट दिया। उसने प्रतिज्ञा की कि भविष्य में दाढ़ी नहीं कटाऊंगा। टाड ने लिखा है "मदिरा के पात्रों को तोड़ने से वर्तमान निराशा को ही सहायता मिली दिखाई दी। बाबर ने अपनी निराशा में अन्तिम उपाय स्वरूप अपने साथियों के धर्मभाव को जो मुसलमानों में बहुत प्रबल है जागृत करने का दृढ़ निश्चय किया।"

बाबर ने अपने जीवन में कई उतार-चढ़ाव देखे थे। उसे पराजय पर पराजय मिली थी और एक के बाद दूसरी मुसीबत का सामना करना पड़ा था। इन मुसीबतों ने उसे बहुत कुछ शिक्षा

दी थी । इन्होंने उसे साहसी, स्थिति को ठीक समझने वाला और बुद्धिमान बना दिया था । उसने निराश सेना में साहस भरने का प्रयत्न किया । उसने अपने सैनिकों को बुलाया और उनसे कहा:—

"सरदारों और सिपाहियों, प्रत्येक मनुष्य जो संसार में आता है अवश्य मरता है । अविनाशी तो केवल ईश्वर है । जो इस संसार रूपी सराय में आता है उसे एक न एक दिन यहां से बिदा होना ही पड़ेगा । इसलिए लांछित और अपमानित होकर जीने से प्रतिष्ठा के साथ मरना कहीं अच्छा है । मैं स्वयं भी अपमानित होकर जीने की अपेक्षा युद्ध में मरना अच्छा समझूंगा । परमात्मा ने हम पर बड़ी कृपा की है जो हमें यह सुअवसर प्रदान किया है । यदि हम युद्ध में मारे गये तो आने वाली सन्तान हमें शहीद कह कर पूजेगी । और यदि विजयी हुए तो गाजी कहलायेंगे । अतः आओ, हम सब पवित्र कुरान को हाथ में लेकर शपथ लें कि प्राण रहते हुए रण में पीठ दिखाने का विचार नहीं करेंगे ।" इसके बाद सब सैनिकों ने कुरान हाथ में लेकर प्रतिज्ञा की ।

बाबर की युक्ति से सेना में क्षणिक उत्साह तो आया लेकिन उसको स्वयं विजय की कोई आशा नहीं थी । उसने रायसन के सरदार सिलहदी के द्वारा महाराणा से सुलह की बातचीत शुरू की । उसने दोनों राज्यों की सीमा बयाने के पास पीलाखाल नियत करने की और महाराणा को वार्षिक कर देने का भी प्रस्ताव किया और बदले में यह चाहा कि वह दिल्ली का स्वामी बना रहे । टाड ने लिखा है "हमारा पक्का विश्वास है कि बाबर उस समय जिस स्थिति में था उसमें वह किसी भी तरह की प्रतिज्ञा करने से नहीं हिचकता ।" यह बातचीत कई दिनों तक चलती रही । इस बीच वह लड़ाई की तैयारियां करता रहा । महाराणा की यह शिथिलता

उनके लिए घातक सिद्ध हुई । इतिहासकारों का कथन है कि यदि वे देर न करते और एकदम लड़ाई शुरू कर देते तो अवश्य ही विजय श्री उन्हें प्राप्त होती लेकिन बाबर की दयनीय स्थिति देखकर निश्चिंत रहना घातक सिद्ध हुआ। इस बीच कुछ लोग विश्वासघात करके बाबर से भी मिल गये।

महाराणा ने संधि की शर्तें मंजूर नहीं की और सं. १५४८ में चेत्र शुक्ला चतुर्दशी के दिन सुबह ही दोनों सेनाएं सीकरी के मैदान में भिड़ गईं महाराणा हाथी पर बैठ कर अपनी सेना का संचालन कर रहे थे उधर बाबर ने सामने तोपें लगा कर अपनी सेना को पीछे रखा था। राजपूतों ने बड़े वेग से बाबर की सेना पर आक्रमण किया। भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया । महाराणा की वीरता तो देखने योग्य थी। वे एक ही हाथ से वह पराक्रम दिखा रहे थे जिसके कारण शत्रु थर्रा रहे थे। रणभूमि रक्त-रंजित हो गई। एक के बाद एक अनेक वीर धराशायी होने लगे । बाबर की सेना थोड़े से ही संग्राम के बाद घबरा उठी। राजपूतों ने उसे दायें बायें से दबा रखा था। बाबर की सेना के पैर उखड़ रहे थे। उसी समय एक तीर महाराणा के सीने में लगा जिससे वे मूर्छित हो गये। राजपूत सरदारों ने महाराणा को पालकी में लिटा कर मेवाड़ की ओर भेज दिया और आपस में परामर्श करके झाला अज्जा को महाराणा के हाथी पर बिठा दिया ताकि राजपूत महाराणा को न देख कर हताश न होने पाये । झाला अज्जा सारे राज चिन्ह धारण करके हाथी पर बैठे और सेना का संचालन करने लगे। बाबर की तोपों की मार से राजपूत धराशायी हो रहे थे फिर भी वे जान पर खेल कर लड़ रहे थे । बाबर ने बहुत सी लड़ाइयां लड़ी थी लेकिन इस प्रकार का युद्ध नहीं देखा था। वीर वर अज्जा ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और लड़ते लड़ते वह वीर सदा के लिए युद्ध भूमि में सो गया ।

धन्य हो वीर, तुम जैसे नर रत्नों ने ही भारत भूमि के मस्तक को ऊंचा किया है। अन्त में राजपूत लड़ते लड़ते मारे गये लेकिन उन्होंने पीठ न दिखाई बाबर विजयी हो गया। इस युद्ध ने भारत-वर्ष के भाग्य का निर्णय कर दिया । राजपूतों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और बाबर स्थायी रुप से भारत का सम्राट हो गया।

मूर्छित महाराणा जब बसवा नामक ग्राम पहुँचे तब उनको चेत आया। उन्होंने युद्ध के बारे में पूछा कि उसका किस प्रकार अन्त हुआ। उन्हें सारी कथा सुनाई गई । महाराणा को इस पराजय से मर्मान्तक पीड़ा हुई। जो लोग उन्हें यहां ले आये उनके ऊपर वे बहुत बिगड़े। बोले—"मुझे युद्ध क्षेत्रसे लाकर तुमने बहुत बड़ी भूल की है। अब इस भूल का प्रायश्चित सारे भारत-वर्ष को करना पड़ेगा। मेरे जीवन का मूल्य देश की स्वतंत्रता से अधिक नहीं था। मुझे लेकर तुमने स्वतंत्रता को खो दिया।" उन्हें इस पराजय का इतना दुःख था कि उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि 'जब तक मैं अपने देश को स्वतंत्र नहीं करूंगा, बाबर को पूरी तरह पराजित नहीं करूंगा तब तक चित्तौड़ नहीं लौटूंगा।" महाराणा ने वहीं अपना डेरा डाल दिया और युद्ध की तैयारी करने लगे। इधर बाबर ने देखा कि राजपूत इस लड़ाई में हारे अवश्य हैं लेकिन वे अधीन नहीं हुए हैं । वे ही उसके मुख्य शत्रु हैं। अतः दिसम्बर १५२७ में वह आगरे से चला और चन्देरी के राजा मेदनि-राय पर आक्रमण करने के लिए २८ जनवरी को चन्देरी आ गया। महाराणा भी चन्देरी की ओर चल पड़े। संध्या के समय वे इरिच पहुँचे। महाराणा की सेना ने यहां विश्राम करने के लिए डेरा डाल दिया। उनके बहुत से सरदार युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे। जब महाराणा बाहर घूमने के लिए निकले तो उन्होंने उनके भोजन में विष मिलवा दिया । लौटकर महाराणा ने भोजन किया और लेट गये। बस विष ने उनकी जीवन लीला समाप्त कर दी।

महाराणा भारतवर्ष के उन जगमगाते हुए रत्नों में से हैं जो इतिहास में अपना सानी नहीं रखते। वीरता मानों उनमें साकर हो गई थी। साहस और धैर्य की तो वे प्रतिमूर्ति थे। वे जीवन भर लड़ते रहे फिर भी वे मानवी गुणों से ओत प्रोत थे। अपने कट्टर शत्रु को भी जीवन दान ही नहीं आधा राज्य भी दे देना उनके ही अनुरूप था। उन्होंने मेवाड़ की विजय वैजयन्ती गुजरात से लेकर देहली तक फहरा दी। यदि वे थोड़ीसी भूल न करते तो मेवाड़ की विजय पताका सारे भारतवर्ष पर फहराती लेकिन विधाता को यह मंजूर न था। स्वयं बाबर ने उनकी प्रशंसा की है। उसने लिखा है—

"महाराणा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर ही आगे बढ़े थे।" महाराणा आप धन्य हैं। आप मर कर भी अमर हैं। आज भी आपके स्मरण से हमारे अन्दर नये उत्साह, नये जोश और नये जीवन का संचार होता है।

महाराणा हंमीर

चित्तौड़ के महाराणा लक्ष्मणसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह एक दिन शिकार खेलने निकले। साथ में कुछ सरदार और सैनिक भी थे। कुँवर अमरसिंह को एक सूअर दिखाई दिया। आपने उस पर तीर चलाया, लेकिन निशाना चूक गया और सूअर एक ज्वार के खेत में घुस गया। कुँवर अमरसिंह भी उसके पीछे-पीछे खेत में घुसे। खेत के बीचों बीच ऊँचा सा मचान था जो कि खेत की रखवाली के लिए बनाया गया था। कुँवर उस मचान के पास पहुँचे तो देखा कि एक कृषक बालिका अपनी गोफन में पत्थर रख कर पक्षियों को उड़ा रही है। एक अपरिचित व्यक्ति को अपने खेत में देखकर उसे कौतूहल हुआ। उसकी राजसी वेश-भूषा देखकर वह मचान से उतरी और नम्रतापूर्वक बोली—"आप अधिक कष्ट न कीजिये मैं उस सूअर को आपकी ओर ही हांक देती हूँ।" उसके ये शब्द सुन कर कुमार को हँसी आई। लेकिन अपनी हँसी को रोक कर बोले "बहुत अच्छा, आपकी करामत भी देख लें।" कुमार खेत के बाहर चले गये। कृषक बालिका ने ज्वार का एक डन्ठल तोड़ा और सूअर की ओर चली। थोड़ी ही देर बाद उस डन्ठल से सूअर को पीटती हुई उसी ओर निकली जिधर राजकुमार खड़े थे। राजकुमार और उनके साथी कन्या के इस अद्भुत साहस से चकित हो गये। सबने उसके साहस की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

दोपहर का समय हो गया था। अतः राजकुमार ने वहीं डेरा डाल दिया। भोजन की तैयारी होने लगी। सब लोग अपने-अपने काम में लगे हुए थे और राजकुमार खड़े हुए सबका

निरीक्षण कर रहे थे। एकाएक एक छोटा सा पत्थर सनसनाता हुआ आया और राजकुमार के कान के पास से निकल कर उनके पास खड़े हुए घोड़े के पैर में लगा। पत्थर घोड़े के पैर में इतनी जोर से लगा था कि बेचारा घोड़ा जमीन पर गिर गया। उसका वह पैर बेकाम हो गया। सबने घोड़े को गिरते देखा तो चारों ओर अपनी निगाहें दौड़ाईं। देखा कि वही कृषक बालिका उस मचान पर खड़ी है। उसके हाथ में वही गोफन है जिसमें पत्थर रख कर वह पक्षियों को उड़ाने के लिए फैंक रही है। सबकी समझ में आ गया कि यह उसीका फेंका हुआ पत्थर है। लेकिन उसके पत्थर में इतनी जबरदस्त शक्ति! यही सबके आश्चर्य का विषय बन गया। बालिका ने भी घोड़े के पैर में पत्थर लगता हुआ देखा और यह भी देखा कि वह जमीन पर गिर गया। वह दौड़ी हुई आई और उसने राजकुमार से क्षमा याचना की। उसके निर्भीक और नम्रव्यवहार ने सबको मुग्ध कर दिया। उसके सौजन्य, सभ्यता, शील और निष्कपट व्यवहार ने तो मानो सबके ऊपर जादू कर दिया। एक देहाती-बालिका में एक साथ इतनी बातें देखकर राजकुमार और उनके साथियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। यदि और कोई होता तो शायद वे गुस्सा होते लेकिन इस बालिका के सामने आते ही उनके मन में गुस्से जैसी कोई बात तक न आई। राजकुमार तो उसकी ओर एक टक देखते ही रह गये। मन ही मन उसके रूप, गुण और बल की प्रशंसा करते रहे। बालिका अनूठे ढंग से एक सरल हँसी हँसी और विनम्र नेत्रों से राजकुमार की ओर देख कर वहां से चली गई।

राजकुमार ने भोजन किया और शाम के समय जब वे अपने साथियों के साथ घर लौट रहे थे तो रास्ते में फिर वही कृषक बालिका दिखाई दी। इस समय उसके सिर पर एक दूध का बरतन था और हाथ में एक रस्सी थी जिसके दोनों सिरों में

दो बछड़े बंधे हुए थे। बछड़े बड़े आनन्द के साथ कूदते फाँदते हुए जा रहे थे। कभी वे खड़े हो जाते, कभी उछलते-कूदते और कभी दौड़ने लगते थे। दिन भर खेतों में हरी हरी घास खा चुके थे और आते समय मां का दूध पी आये थे तब प्रसन्न क्यों न होते? बड़े मस्त होकर उछलते-कूदते चले जा रहे थे। यह दृश्य बड़ा मोहक था। राजकुमार के एक साथी को शरारत सूझी। उसने इस इरादे से अपना घोड़ा बालिका के पास से दौड़ाया कि बछड़े चौंकें और उस बालिका के सिर से दूध का बरतन गिर जाय। बालिका उसके इस इरादे को समझ गई। ज्योंही उसने अपना घोड़ा बालिका के पास से दौड़ाया बालिका ने बड़ी चालाकी और फुर्ती के साथ अपने दोनों बछड़ों को अश्वारोही के पैरों में बड़ी कुशलता से लिपटा दिया। अश्वारोही चला था बालिका की मजाक उड़ाने, यहां उसकी ही मजाक उड़ने लगी। बेचारा जमीन पर गिर कर धूल चाटने लगा। कन्या ने उसे गिरते देखा और मुस्कराकर फिर अपने बछड़ों के साथ उसी तरह चलने लगी मानों कोई विशेष बात हुई ही न हो। अब तो राजकुमार की खुशी और आनन्द का कोई ठिकाना न रहा। इस घटना ने जैसे उनको मंत्र-मुग्ध कर दिया। एक अश्वारोही को कह कर बालिका को अपने पास बुलाया। बोले—"तुम कहां रहती हो?" कन्या ने उत्तर दिया "मैं यहीं इस गांव में रहती हूँ। मेरे पिता चंदाणे कुल के राजपूत हैं। लेकिन आजकल हमारी स्थिति ठीक नहीं है। महाराज, हम तो निर्धन लोग हैं।" राजकुमार ने कहा—"मैं महाराणा का जेष्ठ पुत्र अमरसिंह हूँ। अपने पिताजी से कहना कि वे कल मुझसे मेरे निवास स्थान पर आकर मिलें।"

दूसरे दिन राजकुमार को सूचना मिली कि उस कृषक बालिका का पिता उनसे मिलने के लिए आ गया है और द्वार पर प्रतीक्षा कर रहा है। राजकुमार ने वृद्ध को अन्दर बुलाया। वृद्ध ने

राजकुमार को थोड़ा झुक कर प्रणाम किया और उनके पास ही बैठकर बातें करना आरंभ कर दिया। आस पास के लोगों को वृद्ध का यह व्यवहार कुछ खटका, लेकिन राजकुमार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने बड़े प्रेम और आदर के साथ वृद्ध से बातचीत की। बालिका के रुप और गुण की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कल की घटनाओं का जिक्र किया और वृद्ध के सामने बालिका का विवाह अपने साथ कर देने का प्रस्ताव रखा। वृद्ध अपनी लड़की को बहुत प्यार करता था। विवाह बालिका के लिए अच्छा होगा या बुरा इस बात पर विचार न करते हुए उसने सोचा बालिका मुझसे अलग हो जायगी। उसका अलग होना उसे अच्छा नहीं लगा। उसने अनुभव किया कि ऐसी सुन्दर और सुशील लड़की के चले जाने से उसका घर ही सूना हो जायगा। वृद्ध ने विवाह करने से इन्कार कर दिया। राजकुमार ने काफी समझाया-बुझाया, कुछ लालच भी दिया लेकिन वृद्ध टस-से-मस न हुआ। राजकुमार को बड़ी निराशा हुई लेकिन इसका इलाज क्या था? उन्होंने वृद्ध को उसी आदर के साथ बिदा कर दिया।

वृद्ध अपने घर लौटा। उसने सारी बातें अपनी पत्नी को सुनाई। जब उसने यह सुना कि पिता ने राजकुमार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो उसे अच्छा नहीं लगा। उसने वृद्ध को समझाया कि इन्कार करना बालिका के उज्ज्वल भविष्य को ठुकराना है। विवाह तो आज नहीं कल किसीके साथ करना ही होगा लेकिन ऐसा मौका फिर नहीं आएगा। उसने वृद्ध से प्रार्थना की कि वे फिर राजकुमार से मिलें और उनको अपनी स्वीकृति की सूचना दे दें। वृद्ध की समझ में सब बातें आ गईं। वह दुबारा राजकुमार के पास गया और अपनी स्वीकृति उन पर प्रकट कर दी। अब क्या था? जल्दी ही उस बालिकाके साथ राजकुमार का विवाह हो गया। इसी बालिका के गर्भ से एक बालक का जन्म हुआ। यही बालक हमारे चरित्र

नायक राणा हंमीर हैं, जिन्होंने अपने वंश को उज्वल किया और मेवाड़ के विनिष्ट गौरव का पुनरुद्धार किया।

हमीर का जन्म अपने ननिहाल में हुआ था। जब अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया उस समय इनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी। अभी तक वे अपने नाना के गाँव को छोड़कर कहीं बाहर नहीं गये थे। चित्तौड़ का भी इन्होंने अब तक दर्शन नहीं किया था। अलाउद्दीन की चढ़ाई इतिहास में प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि जब अलाउद्दीन के साथ लड़ाई चल रही थी, तब महाराणा एक दिन रात के समय लड़ाई की ही बातें सोचते हुए कभी बिस्तर पर लेटते और कभी बैठ जाते थे। आधी रात हो गई और उनको नींद नहीं आई। आधी रात के समय शान्ति को भंग करती हुई एक गम्भीर आवाज उनको सुनाई दी। कोई कह रहा था—"मैं भूखी हूँ" महाराणा कुम्भा ने चारों ओर देखा। दीपक के क्षीण प्रकाश में उन्हें पत्थर के खम्भों के बीच में चित्तौड़ की अधिष्ठात्री देवी प्रकट होती हुई दिखाई दी। राणा उठकर खड़े हो गये और बोले—"देवी, मेरे आठ हजार सैनिक काम आ गये हैं और तू अब भी भूखी है? क्या अब भी तेरी भूख शांत नहीं हुई।" देवी ने कहा—"नहीं, मैं राजसी बलिदान चाहती हूँ। यदि तेरे राजकुमार युद्ध भूमि में प्राण नहीं देंगे तो मेवाड़ का राज्य बापा के वंशधरों के हाथ से निकल जायगा।" दूसरे दिन राणा ने यह बात अपने सरदारों से कही। उनको इस पर विश्वास नहीं हुआ। राणा ने उनको कहा—"आज मेरे कमरे में सोइये शायद आज भी देवी प्रकट हो।" सरदार राणाजी के कमरे में सोये और आधी रात के समय फिर वही देवी प्रकट हुई और उसने वही बात दोहराई। अब तो राजकुमारों को युद्ध-भूमि में भेजने का निर्णय करना पड़ा। राजकुमार अमरसिंह सब से बड़े थे अतः वे ही सबसे पहले गये और वीरतापूर्वक लड़ते हुए वीर-

गति को प्राप्त हुए। उनके बाद दूसरे राजकुमार की बारी आई फिर तीसरे की और इस प्रकार सात राजकुमार युद्ध-भूमि में काम आ गये। अन्त में महाराणा के सबसे छोटे पुत्र अजयसिंह की बारी आई। उसे बिदा करते समय राणा ने कहा था—"तुम्हारे बाद तुम्हारे बड़े भाई अमरसिंह का पुत्र चित्तौड़ की गद्दी पर बैठेगा।" अजयसिंह भी अपने भाईयों की भाँति वीरता से लड़े। जब वे घायल हो गये तो केलवाड़े के पहाड़ों में चले गये। कहने की आवश्यकता नहीं की इधर महाराणा लड़ते लड़ते मारे गये और उधर राजपूतानियों ने जौहर कर लिया। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का कब्जा हो गया। उसने चित्तौड़ के सारे महल मन्दिर आदि तुड़वा दिये और लूट मार मचाकर चित्तौड़ को बर्बाद कर दिया। अपने पुत्र खिजरखाँ के हाथों में यहां का शासन सौंप कर वह दिल्ली लौट गया। इस प्रकार चित्तौड़ के इस प्रथम साके में बापा के दो ही वंशधर बचे थे अजयसिंह तथा हंमीर।

अजयसिंह को अपने पिताजी के अन्तिम शब्द याद थे। जब वे केलवाड़े आये तो उन्होंने हंमीर को भी अपने पास बुला लिया। यहां वे उनको क्षत्रियोचित शिक्षा देने लगे। हम्मीर को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। कुछ दिनों में उन्होंने तलवार, तीर, भाला आदि शस्त्रास्त्र सीख लिये और वे निपुण होकर दुश्मनों का मुकाबला करने में अपने चाचाजी का साथ देने लगे। मुसीबत के मारे अजयसिंह को केलवाड़े में चैन नहीं थी यहां भी कभी-कभी मुसलमानों से झगड़ा हो जाता था। आस-पास क भीलों से भी इनकी नहीं बनती थी। अतः प्रायः किसी न किसी से लड़ाई छिड़ती ही रहती थी। मूँजा नामक एक भील वहां के भीलों का सरदार था। था भी बड़ा बहादुर। अजयसिंह और उसमें शत्रुता हो गई। दोनों पक्ष एक दूसरे के कट्टर दुश्मन बन गये। एक दूसरे के खून के प्यासे रहने लगे। एक दिन दोनों

में द्वन्द युद्ध छिड़ गया। राणा ने मूँजा को घायल कर दिया और बुरी तरह पृथ्वी पर दे मारा। अब तो उसका बड़ा अपमान हुआ। वह अपने अपमान का बदला लेने के लिये समय देख रहा था। राणा के दो पुत्र थे—क्षेत्रसिंह और सज्जनसिंह। एक की उम्र १५ वर्ष की दूसरे की सोलह वर्ष। उनमें वह वीरता और साहस नहीं था जो राजपूतों की पैतृक विरासत होती है। अतः वे पिता को निश्चिंत करने में असमर्थ थे। हम्मीर अपने इन दोनों भाईयों से छोटे थे लेकिन वे उनसे अधिक वीर और साहसी थे। राणाजी से बोले—"मैं मूँजा का सिर लाने जाता हूँ। यदि न ला सका तो वापिस नहीं लौटूँगा।" राणा ने समझाया लेकिन वे तो प्रतीज्ञा कर चुके थे। उसी दिन घर से निकल पड़े। कुछ ही दिनों के बाद वापिस लौटे। अपना विजय चिह्न उन्होंने राणाजी के सामने रख दिया और बोले—"अपने शत्रु का सिर पहिचान लीजिये।" राणा की खुशी का ठिकाना न रहा वे खुशी से उछल पड़े। उन्होंने हम्मीर को गले लगा लिया। शत्रु के कटे हुए सिर से रक्त लेकर उसीसे हम्मीर का राज तिलक कर दिया। अजयसिंह के दोनों पुत्रों को अब राज्य प्राप्ति की कोई आशा नहीं रही। अतः वे निराश होकर दक्षिण की ओर चले गये। कहा जाता है कि छत्रपति शिवाजी इन्हीं के वंशज थे।

कुछ ही दिनों के बाद राणा अजयसिंह इस संसार से चल बसे। अब हंमीर महाराणा बने; लेकिन इस नये महाराणा के पास न राज्य था, न धन था और न कोई अनुयायी ही था। यदि थोड़ी सेना होती तो उससे शत्रु का मुकाबला करते लेकिन उसका भी पता नहीं था। साधन कुछ नहीं थे। लेकिन राणा हंमीर के मन में निराशा नहीं थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि "जबतक मैं जीवित रहूँगा, मेरे हाथ पैर काम करते रहेंगे और हाथ में तलवार रहेगी

तबतक मैं मेवाड़ के उद्धार के लिए प्रयत्न करता रहूँगा। मेवाड़ को पराधीन नहीं रहने दूंगा।"

अपने सीमित साधन और शक्ति की चिन्ता न करके उन्होंने प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने एक नई नीति अपनाई। वे छिपे-छिपे शत्रुओं पर आक्रमण करते और लूटमार करके चंपत हो जाते। इसी तरह शत्रुओं को नुकसान पहुँचाने लगे। उनकी इस नीति का यह परिणाम हुआ कि मेवाड़ की तलेटियां निर्जन और शून्य बनने लगीं। शत्रुओं के कुटुम्बी अपने मकान, खेत, दुकान सब कुछ छोड़कर भाग गये। अब उन्होंने घोषणा करवाई कि जो लोग महाराणा हंमीर को अपना स्वामी मानते हैं और उनकी अधीनता में रहना चाहते हैं उन्हें मेवाड़ की पश्चिमी पहाड़ियों में जाकर सपरिवार रहना चाहिए। जो लोग वहाँ जाकर न रहेंगे वे मेवाड़ के शत्रु समझे जायँगे और उनको देशद्रोह का दण्ड दिया जायगा। अब क्या था? मेवाड़ियों के दल के दल पश्चिमी पहाड़ियों की ओर जाने लगे। चित्तौड़ के तत्कालीन अधिनायक मालदेव ने राणा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया लेकिन उससे कुछ न हो सका। उसके प्रयत्नों के बावजूद हम्मीर का बल बढ़ता गया और उसका बल घटता ही गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि जब अलाउद्दीन दिल्ली लौटा तो वह अपने पुत्र खिजरखाँ को चित्तौड़ का अधिकारी बना गया था। खिजरखाँ वहाँ का शासन ठीक तरह न संभाल सका। अतः अलाउद्दीन ने जालौर के राजा मालदेव को उसके स्थान पर नियुक्त किया और उसे दिल्ली बुला लिया। लेकिन खिजरखाँ की भांति मालदेव को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसका भी वहाँ टिकना असंभव हो गया। हम्मीर और उसके

साथियों ने उसे भी सुख की नींद न सोने दिया। जब वह बहुत परेशान हो गया तो उसने एक उपाय ढूंढ निकाला। उसने हंमीर के पास सन्देश भेजा कि मैं अपनी कन्या का विवाह आपके साथ करना चाहता हूँ। वह चाहता था कि विवाह से आपसी सम्बन्ध जुड़ जाय और शान्ति के साथ शासन कार्य होता रहे। जब हम्मीर के पास यह सन्देश पहुँचा तो उनको तथा उनके सारे साथियों को आश्चर्य हुआ। एक ओर जब मालदेव से लड़ाई छिड़ी हुई थी तब दूसरी ओर वह विवाह क्यों करना चाहता था यह बात किसी के समझ में नहीं आती थी। सब इसी नतीजे पर पहुँचे कि इसमें कोई राजनैतिक चाल है। सारे सामन्तों ने विवाह का विरोध किया लेकिन राणा ने उनकी एक न सुनी। बोले—"आप, किसी रहस्य की आशंका करके क्यों चिन्तित होते हैं? हमारे अन्दर इतनी शक्ति है कि हम मालदेव के सारे षडयन्त्रों को तोड़-फोड़ देंगे। यदि इसमें कोई चाल हो तो भी हमें डरना नहीं चाहिए। मैं इसमें एक लाभ देखता हूँ। वह यह कि इसी बहाने मुझे अपने पूर्वजों की जन्मभूमि चित्तौड़ के दर्शन हो जायगें।" राणाजी के इन दृढ़तापूर्ण शब्दों ने सब में साहस का संचार कर दिया।

विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया और दूसरे ही दिन वीर युवक हम्मीर अपने ५०० सवारों के साथ चित्तौड़ की ओर चल पड़े। चित्तौड़ का गगन चुम्बी दुर्ग दूर से ही दिखाई दिया। उसे देखते ही उनका रोम रोम पुलकित हो गया। पूर्वजों की मातृभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त करने का विचार और दृढ़ हो गया। मन ही मन प्रतिज्ञा करते हुए कहने लगे—या तो पूर्वजों की इस पवित्र भूमि का पुनरुद्धार करूँगा या फिर उसके लिए लड़ते लड़ते अपने प्राणों को न्यौछावर कर दूंगा।' इन्हीं विचारों और कल्पनाओं में डूबे हुए वे दुर्ग पर

पहुँचे। मालदेव के पुत्रों ने उनका स्वागत किया और बिना किसी धूमधाम के विवाह करके चले गये। रात्रि हुई और जब हंमीर अपनी नव परिणीता पत्नी से मिले तो उन्होंने उससे इस विवाह का कारण पूछा। वह बोली—"यह विवाह विवाह की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि इसके पीछे कोई राजनैतिक उद्देश्य है। आपसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही पिताजी ने यह विवाह किया है। इस विवाह के द्वारा वे आपकी ओर से निष्कण्टक हो जाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि आप इस सम्बन्ध के कारण अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दें और चित्तौड़ पर पुनः अधिकार करने की बात त्याग दें। लेकिन मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता कि आप अपने विचार बदलें।

मैं आपको एक उपाय बताती हूँ। जिस समय आपको दहेज दिया जाय उस समय आप वृद्ध महता जाल को अवश्य मांग लीजिये। वह बड़ा अनुभवी, जानकार और चतुर व्यक्ति है। पिताजी उस पर बड़ा विश्वास करते हैं। उसे चित्तौड़ की महत्व-पूर्ण जानकारी है और बहुत से लोग भी उसके प्रभाव में हैं। उसकी सहायता से आपको अपनी प्रतिज्ञा पालन करने में बड़ी सहायता मिलेगी।" अपनी प्रियतमा के ये शब्द सुनकर राणा हम्मीर की खुशी का ठिकाना न रहा। उसकी सरलता, सत्य-प्रियता और निष्कपटता ने उनपर बड़ा अच्छा असर डाला। उसकी पतिभक्ति पर वे मुग्ध हो गये।

दूसरे दिन जब दहेज देने का अवसर आया तो हम्मीर ने अपनी नववधू के परामर्शानुसार महता जाल को अपने श्वसुर से मांगा। मालदेव कुछ हिचके जरूर लेकिन जामाता की बात टालना भी कठिन था। संकोच में आकर महता जाल दे दिया गया। कुल १५ दिन तक हम्मीर वहाँ रहे। इसके बाद अपनी

पत्नी तथा जाल के साथ केलवाड़े लौट आये। अब वे चित्तौड़ पर अधिकार करने का अवसर देखने लगे।

हंमीर अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। दो वर्ष के बाद उनके एक पुत्र हुआ। इस समय रानी और जाल चित्तौड़ पर ध्यान लगाये हुए थे। छोटी-छोटी-सी बात की खबर उनको मिलती रहती थी और प्रत्येक परिस्थिति पर उनकी आँखें लगी रहती थीं। जब बालक एक वर्ष का हुआ तो रानी ने अपने पिता को कहला भेजा कि—"मैं बालक को कुल-देवी के चरणों में रखने के लिए आना चाहती हूँ। यदि आज्ञा हो तो आऊँ। रानी ने सारी स्थिति पर विचार करके ही यह समय तय किया था। इस समय मालदेव चित्तौड़ में नहीं थे। वे अपनी सेना के साथ विद्रोहियों का दमन करने पूर्व में गये थे और चित्तौड़ में इने-गिने सैनिक ही शेष थे। इन सैनिकों में भी बहुत से ऐसे थे जो रानी और जाल के प्रभाव में थे और उनकी सहायता करने के लिए तैयार थे। सन्देश रानी के भाई के पास पहुँचा। उसने रानी को आने की इजाजत दे दी। रानी जाल के साथ चित्तौड़ पहुँची। जाल ने सिपाहियों को अपनी मुट्ठी में कर लिया और जब पूरी तरह तैयारी हो गई तो राणा हम्मीर को संदेश भेजा। हम्मीर तो संदेश की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। तुरन्त ही सदल-बल चित्तौड़ जा पहुँचे। उन्होंने दुर्ग पर कब्जा कर लिया और अपनी विजय-वैजयन्ती चित्तौड़ दुर्ग पर फहरा दी। वर्षों की दासता के बाद चित्तौड़ स्वतंत्र हुआ और हम्मीर की प्रतिज्ञा पूरी हुई।

दो दिन पश्चात् विद्रोहियों का दमन करके मालदेव लौटे। चित्तौड़ पर सीसोदियों का झंडा देखकर अवाक् रह गये। उनके शोक का पारावार न रहा। क्रोधावेश में उसने झंडे को उखाड़ देने की आज्ञा दी। मालदेव की सेना किले में घुसने का प्रयत्न करने लगी। लेकिन हम्मीर इसके लिए पहले ही तैयार थे। फाटक पर

दोनों ओर के वीरों में लड़ाई हुई । हम्मीर के सैनिकों ने मालदेव की सेना को मार भगाया। मालदेव का एक पुत्र इस लड़ाई में मारा गया । बेचारा हताश होकर लौट गया । अब महाराणा हम्मीर ने चित्तौड़ का शासन-सूत्र अपने हाथ में लेकर उसे सुव्यवस्थित करना प्रारम्भ किया। अलाउद्दीन खिलजी इस समय तक मर चुका था। दिल्ली में ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो महाराणा का मुकाबला करती । अतः अपना शासन व्यवस्थित बनाने में हम्मीर को काफी अनुकूल समय मिल गया ।

अलाउद्दीन के आक्रमण से चित्तौड़ श्री-विहीन हो गया था। राजमहल और मन्दिर तोड़ दिये गये थे और सम्पत्ति लूट ली गई थी । चित्तौड़ के खजाने में न पैसा था न अट्टालिकाओं में भव्यता थी। फिर भी मालदेव के महलों में थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मिली । इसीसे राणा ने किले और राजमहलों की दुरुस्ती प्रारम्भ करवाई। हम्मीर ने दुधारी तलवार के बारे में सुन रखा था। यह तलवार विश्वकर्मा ने अपने हाथों तैयार की थी। भवानी ने यह तलवार बापा को दी थी। हम्मीर इसी तलवार की तलाश में थे। उन्होंने इस तलवार के लिये एक-एक तहखाना और शस्त्रागार ढूँढ डाला। प्रत्येक गुप्त स्थान को खोजा लेकिन तलवार का कहीं भी पता न लगा। हम्मीर को पूरा विश्वास था कि चित्तौड़ की कुल-देवी ने इस तलवार की मुसलमानों से रक्षा की होगी। यह दैवी-शस्त्र मुसलमानों के हाथ में न पड़ने दिया गया होगा । अतः वे बिना निराश हुए उत्साहपूर्वक उसे ढूँढते रहे । एक दिन रात्रि के समय चित्तौड़ की कुल-देवी प्रकट हुई और बोली—"विश्वकर्मा की बनाई हुई दुधारी तलवार चित्तौड़ के दुर्ग में ही है वह यहां की सबसे गहरी सुरंग में है । बड़े-बड़े भयंकर भूत-प्रेत उसकी रक्षा करते हैं । यदि तुम अकेले उस सुरंग में जाओ तो वह तुम्हें वहां मिल सकती है।"

कुल-देवी के इन शब्दों से हम्मीर में नई आशा और उत्साह का संचार हो गया। यह सुरंग राजमहल के पास थी। वह सबसे बड़ी और भयंकर सुरंग थी । इसी सुरंग में पद्मिनी तथा उसके साथ अनेक राजपूत राणियों ने जौहर किया था। जबसे पद्मिनी ने इसमें जौहर करके अपने धर्म की रक्षा की तबसे इस सुरंग में जाने का किसी ने साहस नहीं किया था। इस सुरंग में घोर अन्धकार था। सूर्य की किरणें तो अन्दर घुस ही नहीं सकती थीं इस प्रकार सुरंग भयंकर, अन्धेरी और दुर्गम थी । लेकिन महाराणा हम्मीर ने तो अपने विचारों को बदलना सीखा ही नहीं था । वे निर्भयतापूर्वक अन्दर घुसे । अन्धेरा इतना था कि हाथ भी नहीं दिखाई देता था। पैर रखते ही फिसल कर पत्थरों से टकराने लगे। इतने दिनों से बन्द होने के कारण उसमें बहुतसी चीजें सड़ गई थीं और जबरदस्त दुर्गन्ध आ रही थी। इस दुर्गन्ध के बीच ज्यादा देर तक रहना बड़ा कठिन था। चमगीदड़ और आवाविल बीच-बीच में उड़कर बाधाएँ उपस्थित कर रहे थे। सांप, बिच्छू, मेंढक भी कम नहीं थे। महाराणा हम्मीर को ऐसा लगा, मानों मृत्यु के मुँह में जा रहे हैं । एक कदम आगे जाने के पहिले दस कदम पीछे हट जाने का विचार आता था । लेकिन उनकी प्रतिज्ञा और देवी के शब्द आशा की धीमी ज्योति से उन्हें आगे बढ़ा रहे थे । मार्ग तो दिखाई दे ही नहीं रहा था। टटोल टटोल कर और झुक-झुक कर आगे बढ़ रहे थे । कभी गिरते और कभी फिसल भी जाते थे । जब कुछ दूर आये तो रास्ता कुछ चौड़ा हुआ लेकिन हवा तो उतनी ही दूषित और गन्दी थी । बेचारे जैसे-तैसे आगे बढ़ रहे थे । जब कुछ और आगे गये तो उन्होंने तीन अत्यन्त भयंकर और कुरूप स्त्रियों को देखा। उन तीनों के हाथ में मशालें थीं । उनकी बड़ी-बड़ी और लाल आँखें थीं । शरीर दुर्बल था लेकिन पेट मोटा था। लम्बे बालों के स्थान पर सर्प थे जो अपनी

जबान लपलपा रहे थे। महाराणा हम्मीर का कलेजा जोरसे धड़कने लगा । मशाल का यह प्रकाश उन्हें अन्धकार से भी ज्यादा बुरा लगा। इधर सड़े हुए मांस, चर्बी और धुएं के कारण वायुमण्डल में बड़ी दूषितता आ गई थी। महाराणा के लिए एक क्षण वर्षों के बराबर हो रहा था। जब उनको आगे आता हुआ देखा तो उन डाकिनों में से एक ने जोर से गर्जना की और बोली—"तू क्या चाहता है? तू कौन है? यहाँ क्यों आया है?" हम्मीर ने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया "मैं मेवाड़ का मालिक और बापा के वंशज एवं चित्तौड़ का उद्धारकर्ता हूँ। मेरा नाम हम्मीर है । चित्तौड़ की कुल-देवी ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं इस गुफा में अकेला आकर विश्वकर्मा की बनाई हुई तलवार, जो भवानी ने मेरे पूर्वजों को दी थी, ले आऊँ।" राणा हम्मीर के ये शब्द सुनकर वे उपहास के स्वर में हँसी ।

राणा ने उनकी हँसी की कोई परवाह नहीं की। वे उनके सामने जाकर खड़े हो गये। डाकिनों ने कई तरह के अश्लील और डराने वाले हाव-भाव किये । वे कभी जीभ निकालती थीं, कभी आँखें फाड़ती थीं, कभी दाँत निकालती थीं, कभी चीख मारती थीं और कभी कूदने लगती थीं । राणा के दिल की धड़कन तेज हो गई लेकिन वे दृढ़ रहे । अपने दिल के भावों को छिपाते हुए वे उसी दृढ़ मुद्रा में खड़े रहे। अपनी कमजोरी उन्होंने किसी प्रकार प्रकट न होने दी । वे खड़े-खड़े उसी दृढ़ मुद्रा से उनके रंग-ढंग देख रहे थे। जब वे उनको डराने के प्रयत्न में असफल हो गईं तब प्रसन्न होकर उनमें से एक बोली—"हम्मीर, तुम्हीं अपने पूर्वजों के योग्य वंशज हो । एक दूसरी डाकिन दीवार की ओर मुड़ी और उसके एक बड़े छेद में से उसने वह रत्न-जड़ित जगमगाती हुई तलवार निकाली। यह तलवार राणा को देकर वह बोली—"यह है वह तलवार । तेरी निर्भयता और साहस से प्रसन्न होकर ही हम यह तलवार तुझे दे रही हैं । अब जा। भविष्य में कभी भी

इधर आने का साहस मत करना।" तलवार पाते ही राणा की खुशी का ठिकाना न रहा। उसे लेकर वे खुशी-खुशी उस सुरंग के बाहर आ गये।

महाराणा हम्मीर जिन्होंने अपने जीवन में कई मुसीबतों का सामना किया, और अपनी प्रतिज्ञा पालन में सर्वस्व को होम देने के लिए तैयार रहे, सन् १३६४ में इस असार-संसार से बिदा हो गये। मेवाड़ के छिने हुए राज्य को प्राप्त कराने की प्रतिज्ञा उन्होंने उस समय की जब न उनके पास धन था न जन-बल। इस विशाल कार्य का सारा श्रेय उनकी लगन, क्रियाशीलता, वीरता, साहस एवं दृढ़ता को ही है। दृढ़ता उनका मुख्य गुण था। वे लोह-पुरुष थे जो जबरदस्त आघातों, कठिनाइयों और विषमताओं की चिन्ता न करते थे। उनकी दृढ़ता में वह शक्ति थी कि परिस्थितियों को उनकी दासता स्वीकार करनी पड़ी। महाराणा हम्मीर के बारे में प्रसिद्ध है:—

"तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े न दूजी बार"

मीराबाई

"मीरा के प्रभु गिरिधर नागर चरण कमल बलिहारी।"

मीराबाई का नाम कितना मधुर है! नाम सुनते ही हृदय में भक्ति और प्रेम की तरंगें हिलोरे मारने लग जाती हैं। उसकी अनन्य भक्ति, उत्कट प्रेम और दीवानेपन में इतनी मादकता है, इतनी मन्त्र-मुग्धता है कि आँखों में एक नशा सा छा जाता है, मन भक्ति की पवित्र भूमि में चला जाता है और मीरा के ही भाँति प्रेम दीवाना बन जाता है। सचमुच जब वह करताल लेकर नाचती थी निरसता में भी सरसता दौड़ जाती थी, प्रकृति भी प्रेम विभोर हो जाती थी और नास्तिकों की आँखों के सामने भी गिरिधर गोपाल नाचने लगते थे। हो सकता है कुछ लोगों को इन शब्दों में अतिशयोक्तिका आभास लगे, कल्पना का पुट अनुभव हो, लेकिन जो गिरिधर के प्रेम में दीवाना हो जाता है। उसके साथ एकाकार हो जाता है उसमें यदि यह चमत्कार पैदा हो जाय तो आश्चर्य क्या? मीरा भक्ति की इसी चरमता तक पहुँच गई थी। इसलिए तो उसने पर्वतों जैसी बड़ी मुसीबतों को भी चीर डाला था और मरुस्थल में भी प्रेम की गंगा बहादी थी। उसके लिए न वैभव वैभव था न यौवन यौवन। कण कण में गिरधर गोपाल था। उसीकी सत्ता उसे आकाश के तारों में, पृथ्वी के सुमनों और धूलिकणों में तथा सागर के बूंद बूंद में सजग साकार दिखाई देती थी और मीरा उसी के ऊपर न्यौछावर थी।

मीराबाई मेड़ते के राठौड़ राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। रत्नसिंह के निर्वाह के लिए दूदाजी ने उन्हें बाजोली

आदि बारह गांव दे दिये थे। कुड़की भी इन्ही ग्रामों में से एक था। इसी कुड़की ग्राम में मीराबाई का जन्म वि. सं. १५५५ के आस पास हुआ। वे रत्नसिंह की एकलौती संतान थीं। इकलौती सन्तान होने के कारण माता-पिता ने बड़े लाड़ चाव से उनका पालन-पोषण किया। माता धार्मिक विचारों की एक भक्त महिला थी। वे नियमित रूप से पूजा पाठ करती थीं और मूर्ति पूजा में अटल विश्वास रखती थीं। अतः ईश्वर भक्ति तो मीराबाई ने अपनी माता के दूधमें ही पी ली थी। गिरधर भक्ति और उत्कट प्रेम के संस्कार तो हृदय में घर कर ही चुके थे। शैशवावस्था में ही कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिन्होंने इन प्रेम और भक्तिके बीजों को अंकुरित कर दिया। इस प्रकार की अनेक जनश्रुतियां प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इनके घर एक दिन एक साधु आया। उसके पास भगवान की एक बड़ी ही सुन्दर मूर्ति थी। मीरा उस मूर्ति पर मुग्ध हो गई। दो-चार दिन के बाद साधु जाने लगा तो मीराबाई ने उससे उस मूर्ति को मांगा। जब साधु ने मूर्ति नहीं दी तो मीराबाई ने हठ किया, खूब मचली। लेकिन साधु ने कहा—"ये मेरे इष्ट देव हैं मैं इनसे एक क्षण के लिए भी अलग नहीं हो सकता।" साधु चला गया और मीराबाई उदास होकर रोती रही। गिरधर तो प्रेम के भूखे थे। उनको मीरा के सरल हृदय की भक्ति भावना साधु की भक्ति भावना से अधिक उत्कट लगी। रात में ही उन्होंने साधु को एक स्वप्न दिया और कहा—"मेरी मूर्ति मीरा को दे दो" साधु भगवान के आदेश को कैसे टालता ? सबेरा होते ही उसने मूर्ति मीराबाई को दे दी। अब तो मीराबाई की खुशी का ठिकाना न रहा। वे फूली न समाई। बड़ी भक्ति-भावना के साथ प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगी। खेल कूद छोड़कर भक्ति भावना के रंग में रंग गई। बहुतसा समय भगवान की मूर्ति को नहलाने उन पर चन्दन पुष्प चढ़ाने और सजाने में व्यतीत होने लगा। माता

से मीराबाई ने कुछ ईश्वर-भक्ति के पद सीख लिए थे। उन्हीं को गा-गा-कर गिरधर लाल को रिझाने लगी।

यह भी कहा जाता है कि जब मीराबाई कुछ बड़ी हुई तो उन्होंने एक बरात देखी। पड़ोस में ही किसी की शादी हो रही थी। मीराबाई ने बरात में दूल्हे को देखा और उसके सम्बन्ध में अन्य स्त्रियों को भी चर्चा करते सुना। मीरा के बालक मन में सहज ही प्रश्न उठा—"मेरा दूल्हा कौन है ?" उसने यह प्रश्न माता के सामने दुहराया। माता ने कह दिया—"गिरधर गोपाल"। बस फिर क्या था। मीरा ने सचमुच ही समझ लिया कि मेरा दूल्हा गिरधर गोपाल है। जैसे जैसे वे बड़ी होने लगी वैसे वैसे उनकी यह भावना बढ़ती ही गई और आगे चलकर तो भगवान को पतिरुप में मानकर ही भक्ति करने लगी।

यह जन श्रुति भी काफी प्रचलित है कि मीराबाई ने एक दिन-रात के समय स्वप्न देखा। स्वप्न में देखा कि उसका विवाह गिरधर गोपाल के साथ हो रहा है। मीराबाई ने स्वयं लिखा है—

"माई म्हांने सुपने में परण गया गोपाल।
अंग अंग हल्दी में करीजी सुध्यो भीजो गात।
माई म्हांने सुपने में परण गया दीनानाथ॥
छप्पन कोटि लोग पधारे दूल्हा श्री भगवान।
सुपने में तोरण बाँधियोजी सुपने में आई जान॥
मीरा को गिरधर मिलेजी पूरब जनम का भाग।
सुपने में म्हाने परण गया जी हो गया अचल सुहाग॥

इन जन श्रुतियों में चाहे पूरी तरह सत्यता न हो लेकिन इतना तो अवश्य है कि उनके जीवन के प्रारम्भ में ही ऐसी कुछ घटनाएं अवश्य घटीं जिन्होंने गिरधरलाल के साथ उनका प्रेम-सम्बन्ध जोड़ दिया।

मीराबाई अपना सुनहला शैशव काल जननी की गोद में पूरी तरह बिता भी नहीं पाई थी कि उनकी माताजी इस संसार से चल बसी। अब उनकी देख भाल करने वाला कोई नहीं था। अतः दूदाजी ने उनको अपने पास मेड़ते बुला लिया। यहीं इनका पालन पोषण होने लगा। मीराबाई की भक्ति यहां भी चालू थी। उनके भजनों को सुनकर दूदाजी को बड़ा आश्चर्य होता था। वे कभी कभी लोगों से कहा भी करते थे कि बड़ी होने पर मीराबाई न जाने क्या करेगी। दुर्भाग्य से दूदाजी भी अधिक समय तक जीवित न रहे वि. सं. १५७२ (सन् १५१५) में उनका स्वर्गवास हो गया। दूदाजी के बाद उनके जेष्ठ पुत्र वीरमदेव मेड़ते के स्वामी हुए। इस समय तक मीराबाई काफी सयानी हो गई थी। उनके विवाह के बारे में बातचीत शुरू हुई। उन दिनों राणा सांगा मेवाड़ के सिंहासन पर विराजमान थे। सांगा की कीर्ति भी दूर दूर तक फैल चुकी थी। महाराणा सांगा के जेष्ठ पुत्र भोजराज को ही उनके विवाह के लिए चुना गया। सन् १५१६ में उनका विवाह बड़ी धूमधाम के साथ भोजराज से हो गया। यह विवाह बड़ा महत्वपूर्ण था। मीराबाई मेवाड़ के महाराणा की पतोहू और उनके उत्तराधिकारी भोजराज की पत्नी बन गई थी। अब उनके लिए किस बात की कमी थी ?

विवाह के बाद वे अपने सुसराल में जाकर रहने लगीं। वहां भी वे गिरधर गोपाल की मूर्ति ले गई थीं। रातदिन पूजापाठ चालू था। कुछ लोगों का यह मत है कि वे अपने पति की उपेक्षा करती थी लेकिन यह उनका भ्रम है। गोपाल के साथ वे अपने पति की सच्ची पुजारिन थी। अपने समय का कुछ भाग वे अपने पति की सेवा में व्यतीत करती थीं। लेकिन मीराबाई को अधिक समय तक पति का सुख भी नहीं मिला। विवाह के थोड़े ही दिनों बाद भोजराज इस संसार से चल बसे। इधर पिता रत्नसिंह राणा सांगा

की ओर से लड़ते हुए खानवा के युद्ध में काम आ गये। अब मीरा के लिए न पीहर में कोई था न सुसराल में। वे सुनसान राजमहलों में अपने दिन काटने लगीं। चारों ओर के इस संकट ने उनको गिरधारलाल के और नजदीक ला दिया। अभिशाप वरदान बन गया। मीराबाई की भक्ति की धारा अब तक सूक्ष्म और संकुचित रूप से बह रही थी लेकिन इन आघातों से वह कुछ चौड़ी और वेगशील होकर बहने लगी। एक बन्द कमरे में बैठकर वे गिरधर गोपाल की मूर्ति की पूजा करती और भक्ति भावना में अपने को भूल जाती। कभी कभी उनकी आंखों से आंसुओं की धारा निकलती और शरीर पर पुलकावलि छा जाती। वे प्रेमोन्मत्त होकर कभी हँसती, कभी नाचती और कभी दर्द भरी आवाज में गाने लगती। उनको न खाने का ध्यान रहता न पीने का। ३-३ दिन बिना अन्न-जल ग्रहण किये व्यतीत कर देती।

उन दिनों मेवाड़ में भक्त रैदास का बोल-बाला था। जिसको देखिये वही उनका भक्त था। उन्ही का नाम सबकी जबान पर था। सब उनके भक्ति पूर्ण पदों को गाया करते थे। मीराबाई ने भी रैदास का सहारा लिया। उन्होंने रैदास को अपना गुरु मान लिया। मीराबाई ने स्वयं एक स्थान पर कहा है—

"मेरो मन लागो हरिजूं से अब न रहूँगी अटकी
गुरु मिलिया रैदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।"

मीरा तो पहिले ही गोपाल के रंग में रंग गई थी। रैदासजी ने इस रंग को और भी गहरा कर दिया। अब तो वे पूरी तरह विरागिनी बन गई। उन्होंने सांसारिक सुखों को त्याग दिया।

इधर उनकी मुसीबतों का अन्त नहीं था। राणा सांगा बाबर से हार चुके थे। राणा ने फिर लड़ने की तैयारी की लेकिन वे

मार्ग में ही मर गये। सांगा की मृत्यु के बाद राजा विक्रमादित्य मेवाड़ के राज सिंहासन पर बैठे। वे बड़े कड़े स्वभाव के आदमी थे। मीरा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ईश्वर भक्ति की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। चित्तौड़ देखने के बहाने साधुसन्त और यात्री उनके दर्शन के लिए आने लगे। मीराबाई राजवंश में पैदा हुई थीं और राजवंश में ही व्याही गई थी। वे महारानी थीं, राजरानी थीं। अतः जब वे गोपालकृष्ण के सामने नाचती और साधु सन्तों से बातचीत करती तो राजाजी क्रोध से जल उठते थे। उन्होंने मीराबाई को समझाया। लेकिन मीराबाई कब मानने वाली थी ? उनको समझाने और भक्ति भावना से विरक्त करने के लिए दो सहेलियां नियुक्त की गई। मीराबाई ने उनको उत्तर दिया—

"सखीरी मैं तो गिरधर के रंगराती
पंचरंग मेरा चोला रंगादे झुरमुट खेलन जाती।...
झुरमुट में मेरा साँई मिलेगा खोल आडम्बर गाती॥..."
और—"बरजी मैं काहू की नाहि रहूं।
सुनोरी सखी तुम चेतन होइके मन की बात कहूँ।...

उन सखियों पर भी मीराबाई का प्रभाव पड़ा। गई तो थी मीराबाई को भक्ति मार्ग से विरत करने लेकिन स्वयं ही भक्ति के रंग में रंगकर साधुओं के साथ नाचने गाने लगी। जब राजा ने यह समाचार सुना तो वे चकित हो गये।

मीरा गिरधर के रंग में पूरी तरह रंग गई थी। उसने गिरधर से नाता जोड़ लिया था। उसकी रगरग में गिरधर गोपाल समा रहे थे। जलमें थल में, महल में कुटिया में,जड़में चैतन्य में और धनी में गरीब में सबमें उसे गोपालकृष्ण के दर्शन हो रहे थे लेकिन उसका दर्शन करके भी वह उसे पा नहीं पाती थी। यही तो उसकी पीड़ा

थी—उसकी उत्कट भक्ति की कराह थी। अपने इस भाव को उसने एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस विध सोना होय।
गगन मण्डल में सेज पिया की किस विध मिलना होय॥
घायल की गति घायल जाने की जिन लाई होय।
जोहर की गति जोहर जाने की जिन जोहर होय॥
दाद की मारी वन वन डोलू बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी वैद सावलिया होय॥

यह है मीरा के प्रेम की पीड़ा और उसके वियोग की अन्तर्कथा। यही तो बात थी कि उसे राजमहल का सुख तुच्छ लगता था। यही तो बात थी कि उसने साधु सन्तों के साथ लोक लाज छोड़कर कीर्तन करना शुरू कर दिया था। राजोचित वस्त्राभूषणों को छोड़कर जोगियों का वेश अपना लिया था। विक्रमाजीत उसे समझाते थे, सास समझाती थी। सब कहते थे कि साधु-सन्तों का साथ छोड़ दो। लेकिन मीरा कहती थी—"मेरा गिरधर गोपाल साधु संतों से प्यार करता है। मैं उनको कैसे छोड़ सकती हूँ? वे भगवान के दीवाने हैं मैं भी उनके ही जैसी हूँ। उनका साथ छोड़ना बड़ा कठिन है। मैं तो उनके हाथ बिक चुकी हूँ।

" साधू माता पिता कुल मेरे सजन सनेही ज्ञानी।
सन्त चरण की सारन रैन दिन सदा रहत हूँ वानी॥
राना को समझाओ जाओ मैं तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर सन्तों हाथ बिकानी"॥

मीरा ने तो सांसारिक रिश्तों को छोड़कर ईश्वर से रिश्ता कायम कर लिया था। उन्हीं की भक्ति और प्रेम में तल्लीन थी। यही

कारण था कि उसे सांसारिक मुसीबतों की कोई चिन्ता नहीं थी। वह गिरधर गोपाल के प्रेम में इतनी तल्लीन हो गई थी कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही थी। उनके मार्ग में बहुतसी मुसीबतें खड़ी की गईं, रोड़े अटकाये गये, प्रलोभन दिखाये गये लेकिन वे तो इन सब के परे थी। उनके ऊपर इनका कोई असर नहीं हुआ। राणा ने सांपों का उपहार भेजा, जहर पीने को दिया लेकिन मीरा तो इन सबसे बेखबर थी उसे इनकी चिन्ता भी नहीं थी। सांप का विष और जहर का प्याला उस पर कोई असर डालने में असमर्थ हो गये थे। वे उसके लिए अमृत की भाँति शीतल और मधुर बन गये। उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ जहर के प्याले को ओठों से लगा लिया और सर्पों को हार की भाँति गले में पहन लिया।

"जहर का प्याला भेजिया रे दीजो मीरा हाथ।
अमृत करके पी गई रे भला करे दीनानाथ॥
मीरा प्याला पी लिया रे बोली दोउ कर जोर।
तैं तो मारण की करी रे मेरो राखण हारो और॥"

जब 'राखण हारो' चौबीसों घंटे रक्षा कर रहा था तब ये बेचारे उस पर क्या असर डालते? लेकिन उसके दिल पर इतना असर अवश्य हुआ कि लोग उसे मारने का प्रयत्न कर रहे हैं। लोगों की नजर में वह अच्छी नहीं है। अपना रास्ता तो उसने पकड़ लिया था। उसे कैसे छोड़ती? तत्कालीन महान संत गोस्वामी तुलसीदासजी को पत्र लिखा और उनपर सारी मनो-व्यथा प्रकट करके मार्ग दर्शन की भिक्षा माँगी—

"श्री तुलसी सुख निधान दुख हरन गुसाई।
बारे हि बार प्रणाम करूँ अब हरो शोक समुदाई॥

घर के स्वजन हमारे जेते सब ने उपाधि बढ़ाई ।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई ।।
बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरधर लाल मिताई ।
सो तो अब छूटत नहीं क्यों हूँ लगी लगन वरि आई।।
मेरे मात-पिता के सम हो हरि भक्तन सुखदाई ।
हमको कहा उचित करबो है सो लिखियो समझाई।।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने पत्र पढ़ा और इस प्रकार उत्तर लिख कर भेजाः—

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ।।
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु,भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन भये सब मंगलकारी ।।
नातो नेह राम सो मानियत सुहृद सुसेव्य जहां लो ।
अंजन कहा आँख जो फूटे बहुतक कहों कहालौं ।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्राणते प्यारो ।
जासो होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ।।

सवैया

सो जननि, सो पिता, सोई भ्राता
सो भामिनी, सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगो, सो सखा, सो सेवक
सो गुरु, सो सुर साहब चेरो ।
तो तुलसी प्रिय प्रान समान
कहांलौं बताई कहों बहु तेरो
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह
सो राम को होय बसेरो"

गोस्वामीजी के उत्तर से मीराबाई की दृढ़ता और भी बढ़ गई। उनकी रही-सही ममता भी छूट गई।

सांसारिक माया-मोह छोड़कर मीरा ने गोपाल को पा लिया। संसार ने उन्हें कलंकिनी, कुलटा, कुनारी सब कुछ कहा लेकिन गिरधर गोपाल ने उनको अपना लिया। जिसके लिए जहर का प्याला पीती, अपना वैभव-विलास छोड़ती वह भला कब तक दूर रहता? अपनी पुजारिन से दूर रहना उसके लिए असंभव हो गया। एक दिन मीराबाई भक्ति-भावना में तल्लीन बैठी हुई पद बना रही थी कि उदाबाई ने कहा—"भाबी, मैंने भगवान के चरणों में ध्यान तो लगाया लेकिन अब तक गिरधरलाल ने मुझे दर्शन नहीं दिया। क्या तुम मुझे गिरधरलाल के दर्शन करा दोगी?" मीरा ने उसके हृदय के भाव को पहिचाना और सहेलियों से कहा—"आज तुम तरह तरह के पकवान तैयार करो।" पकवान तैयार हुए। मीराबाई ने पकवानों को सजा कर रखा और आप अपनी सहेलियों के साथ बैठ गई। उदाबाई भी इनमें थी। भक्ति-पद गाये जाने लगे। समा बँध गया। प्रेम और भावना के भूखे भगवान रुक न सके। निराकार को अपने भक्तों के लिए साकार होना पड़ा। आधी रात के समय बंसी बजाते हुए प्रकट हो गये। बोले—'मीरा, तुम सब इतनी अधीर क्यों हो? मैं तो सदा तुम्हारे साथ रहता हूँ।' सारी सहेलियां भगवान के दर्शन करके उनके रूप में मग्न हो गईं। अपने तन-मन की सुध खो बैठी। लेकिन एक पहरेदार ने पुरुष के ये शब्द सुने। घबराया हुआ राणाजी के पास पहुँचा। बोला—"महाराज, मीराबाई के महल में कोई पुरुष बोल रहा है। जल्दी चलिये।" राणा तो ऐसे अवसर की ताक में ही थे हाथ में तलवार लेकर दौड़ पड़े। महल में जाकर चारों ओर देखा लेकिन वहाँ तो कोई नहीं था। गिरधर गोपाल पकवान खाकर अदृश्य हो गये थे। राणाजी ने मीरा को

डाटा और पूछा—'सच बताओ तुम्हारे महल में अभी कौन आया था?' मीरा हँस पड़ी। बोली—'देखते नहीं, गिरधर गोपाल तुम्हारे सामने खड़े हैं' राणा आँखें गड़ा-गड़ा कर देखने लगे। लेकिन उनके भाग्य में गिरिधर गोपाल के दर्शन कहां थे? गिरधर गोपाल भी उन्हें दर्शन कैसे देते? उनकी निगाह मीराबाई के पलंग पर पड़ी, वहाँ उन्होंने एक भयंकर आदमी को सोते हुए देखा। बेचारे भयभीत होकर भाग गये। 'जाको रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' के अनुसार उनके भाग्य में तो यह भयानक रूप था।

लेकिन मीराबाई की मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ। संबंधियों का मुँह पूर्व की ओर था तो उसका पश्चिम की ओर। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर था। बेचारी कबतक इन विषमताओं के बीच रहती? आखिर उसने गोस्वामीजी के उपदेश के अनुसार चितौड़ छोड़ने का निश्चय कर लिया। लेकिन कैसे जाती? इतने कड़े पहरे के बीच से चला जाना भी तो सरल नहीं था। लेकिन वे तो वहाँ न रहने का निश्चय कर चुकी थी। एक दिन रात के समय उन्होंने गेरुए वस्त्र पहिने और महल से निकल पड़ी। चलते चलते वे अपने काका वीरमजी के यहां पहुंची। वीरमजी ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया। यहां वे बड़े सुख से रहने लगी। यहां भी वे दिन-रात गिरधरलाल की उपासना में तल्लीन रहने लगीं। मेड़ते में अपने काका के यहां वे जिस महल में रहा करती थी और जिसमें वे गिरधर गोपाल की मूर्ति के सामने नाचा करती थी। वह महल अब चतुर्भुजजी के मन्दिर में मिला लिया गया है। लोगों का कहना है कि मीराबाई के गिरधर गोपाल की मूर्ति आज भी वहां विद्यमान है।

यहाँ कुछ थोड़े ही दिन आराम से बीते थे कि जोधपुर के राव मालदेव और वीरमदेव के बीच झगड़ा हो गया। राव माल-

देव ने वीरमदेव को हराकर मेड़ता छीन लिया। अब उनके लिए पीहर में भी स्थान नहीं रहा। अतः वे पूरी तरह संन्यासिनी बन गई और गिरधर के प्रेम में मतवाली बनकर जंगलों और पहाड़ों में भटकती हुई मथुरा वृन्दावन पहुँची। यहां उनको साधु संतों का सुसंग प्राप्त हुआ। अब तो, उनकी प्रेम और भक्ति की गंगा निर्बाध रुप से बह निकली।

एक दिन वे गोस्वामीजी की कुटी की ओर उनके दर्शन के लिए गई। गोस्वामीजी अपनी आराधना में तल्लीन थे। मीरा ने अपना संदेशा उनके पास भेजा। गोस्वामीजी तो साधु थे। उन्होंने कहला दिया—"मैं स्त्रियों से नहीं मिलता।" मीराबाई कैसे चूकती? कहला भिजवाया कि—"मैं जानती कि बृन्दावन में सभी स्त्रियां ही हैं। यदि कोई पुरुष है तो केवल गिरधर गोपाल। लेकिन आज यह नई बात मालूम हुई कि गिरधर गोपाल के एक नये साझीदार भी वृन्दावन में रहते हैं।"

इस प्रेम और भक्ति-पूर्ण संदेश से गोस्वामीजी गद् गद् होगये। कुटिया से वाहर निकले और मीराबाई को बड़े आदर के साथ अपनी कुटिया में ले गये। मीराबाई ने अपना समय साधु-सन्तों और रणछोड़जी की सेवा में व्यतीत करना शुरू कर दिया।

इधर मीराबाई चितौड़ से बिदा हुई और उधर उसपर मुसीबत के काले-काले बादल मँडराने लगे। भक्तों को कष्ट देने का कोई अच्छा परिणाम थोड़े ही निकल सकता था? उसका कुफल तो चितौड़ के राजवंश को भोगना ही था। विक्रमाजीत को इसका कुफल मिला। उनके अत्याचारों ने प्रजा को विद्रोह करने के लिये विवश कर दिया। सैनिक सामन्त उनके हाथ से निकल गये। चारों ओर असंतोष और विद्रोह की काली घटाएं छागईं।

इसी मुसीबत में एक नई मुसीबत और आई। गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चितौड़ पर चढ़ाई करदी। विक्रमाजीत में शक्ति तो थी नहीं, कैसे मुकाबला करते? किसी तरह भागकर जान बचाई। बेचारे बूँदी भाग गये। चितौड़ को बहादुरशाह की सेना ने खूब लूटा खसोटा। लोगों ने उदयसिंह को गद्दी पर बैठाया, लेकिन उजड़ा हुआ चितौड़ कई दिनों तक आबाद न हुआ। अब लोगों के ख्याल में आया कि यह सब मीरा के अपमान का परिणाम है। भगवान के भक्तों के सताने का ही ऐसा नतीजा हुआ करता है। राणाजी को भी पश्चाताप हुआ। अब सब लोगों ने निश्चय किया कि मीराबाई के पास जाकर उनसे चितौड़ वापिस लौटने की प्रार्थना की जाय। उनके आने पर ही सारी स्थिति ठीक होगी। यह विचार सब को पसन्द आया। बस फिर क्या था? राणाजीने कुछ ब्राह्मणों को उन्हें लाने के लिए भेजा। इन दिनों मीराबाई द्वारका में रहती थी। वहां वे दिन-रात रणछोड़ जी की भक्ति और साधु सन्तों की सेवा में निमग्न रहती थीं।

ब्राह्मणों ने मीराबाई से चित्तौड़ लौटने की प्रार्थना की। मीराबाई ने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। बोली--"मुझे चित्तौड़ से क्या मतलब? अब तो मैं अपने रणछोड़ की ही शरण में रहूँगी। उनको छोड़कर मैं कहीं नहीं जा सकती।" ब्राह्मणों ने काफी आग्रह किया, काफी अनुनय विनय की लेकिन मीराबाई पर इसका कुछ असर नहीं हुआ। आखिर ब्राह्मणों ने कहा --"यदि आप वापिस न लौटेंगी तो हम आपके दरवाजे पर अन्न जल त्याग कर अपने प्राण विसर्जन कर देंगे। अब तो वे बड़े धर्म संकट में पड़ीं। ब्राह्मणों को कैसे मरने देती? उन्होंने कहा—"अच्छा चलूगी, लेकिन एकबार रणछोड़जी के मन्दिर में जाऊँगी। उनसे विदा लेकर हम लोग चलेंगे।" मीराबाई मन्दिर में गई। उस समय उनकी विचित्र दशा होरही थी।

वे भक्ति और प्रेम से व्याकुल हो रही थी। उनका प्रेम मानों सजीव होगया और भक्ति संसार के पर्दे को चीरकर अदृश्य संसार में पहुँच गई। उनके विरही प्राणों ने निम्न लिखित पद गाया और उसे गाते गाते ही अपने आराध्य में समा गई। वह मिलन कितना सुन्दर था! कितना मधुर!! क्या उसकी समता संसार में कोई कर सकता है? पद था—

"हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर।
भक्त कारण रुप नर हरि धरयो आप शरीर।
हिरनकश्यप मारिलीन्हो धरयो नाहिन धीर।
बूड़ते गजराज राख्यो कियों बाहर नीर।
दासि मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहँ पीर॥"

पहिचान के लिये मीराजी की धोती का एक किनारा रणछोड़-के मुँह में लटकता रह गया। ऐसा अद्भुत मिलन संसार के इतिहास में दूसरा मिल सकता है?

मीराबाई के पद हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं। वे एक प्रेमी भक्त के सीधे साधे उद्गार हैं। वे मीरा के हृदय से निकले हैं। मीरा ने उन्हें सिर खुजला खुजला कर नहीं लिखा था। अतः उनमें हृदय को स्पर्श करके भक्ति की धारा में बहा देने की अपार शक्ति है,ये गीत विभिन्न राग-रागनियों में हैं और इनमें भक्ति भावना और कवित्व का अपूर्व मिश्रण है। उनके गीतों के प्रधान गुण है सरलता, लालित्य और तल्लीनता। उनके पद साहित्यिक दृष्टि से ऊंचे नहीं है। लेकिन वे इतने सरल, सरस और भावपूर्ण है कि भक्तों को मुग्ध कर लेते हैं। मीरा के पदों में वह प्रेम की पीर है, वह रस है जो सूरदास जैसे श्रेष्ठ कवि की रचना में भी नहीं है। उनकी

कविता वाग् विलास नहीं उसमें तो मानों उसका हृदय ही सजीव होकर उतर आया है।

मीरा की उपासना दम्पती भाव की थी। उन्होंने गिरधर गोपाल को पति के रूप में माना था। अतः उनकी कविता में शृंगार और भक्ति का सुन्दर सम्मिलन है। उनका शृंगार लौकिक नहीं था फिर उच्छृङ्खलता के लिए उसमें स्थान ही कैसे हो सकता था? उनमें न सूर सी उच्छृङ्खलता है न विद्यापति सी अश्लीलता। उनका शृंगार पवित्र है। उसके प्रेम में अनन्त शाश्वत और पवित्र प्रेम की अनोखी झांकी है। देखिये वे गाती हैं—

पिय बिन सूनो छे जी म्हारो देस।
ऐसा है कोई पिव कू मिलावे तनमन कठ सब पेस।
तेरे कारण बन बन डोलूं कर जोगण को भेस।
अवधि वदी ती अजू न आए पांडर होई गया केस
मीरा के प्रभु कब से मिलोगे तजि दियो नगर नरेस।

मीरा की कविता कवि हृदय की सच्ची अनुभूति है। उनके शब्दों में चोट है, व्यथा है, घायल करने की शक्ति है। जो हृदय पर असर किये बिना नहीं रहतो। वे प्रेम दीवानी थी। उनकी लगन तो गिरधर गोपाल से लगी थी।

उनको केवल गिरधर गोपाल के दर्शन की लालसा थी। उनकी यह इच्छा इस पद में साकार हो उठी है—

"म्हाने चाकर राखोजी" वे इसीलिए चाकरी करना चाहती हैं कि उन्हें नित्य प्रति दर्शन मिलें। प्रेमी को प्रियतम के दर्शन के अलावा चाहिये ही क्या? उनकी कवितायें भक्ति का जबरदस्त उन्माद है। यही उन्माद जीवन-पथ को आलोकित करता है। काव्यकला तो इसमें अपने आप शरण पा गई है।

दादू दयाल

आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी का कथन है कि—"योगियों का एक बड़ा भारी सम्प्रदाय अवध, काशी, मगध, और बंगाल में फैला हुआ था। ये लोग गृहस्थ थे और इनका पेशा जुलाहे और धुनिये का था। इनमें जो साधु हुआ करते थे वे भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करते थे। ब्राह्मण-धर्म में इनका कोई स्थान नहीं था। मुसलमानों के आने के बाद ये लोग धीरे धीरे मुसलमान होगये और आज भी होरहे हैं। परन्तु मुसलमान होने पर भी ये अपनी साधनाओं से विरत नहीं हुए। बंगाल में योगियों के बहुत से धर्म-ग्रन्थ और पुराण मुसलमानी नामधारी लोगों के लिखे हुए पाये जाते हैं। वहां योगी नाम की अलग जाति है। जो प्रायः समाप्त होने को आचुकी थी, पर अब जब कि उसमें आत्म चेतना का भाव जाग्रत हुआ है वह अपनी हस्ती बचाने का प्रयत्न कर रही है। कबीर, दादू और जायसी ऐसे ही नाम-मात्र के मुसलमान थे जिनके परिवार में योगियों की साधना-पद्धति जीवित रूप में वर्तमान थी।" द्विवेदी जी ने आगे सन १९२१ की जन-गणना के आंकड़े देकर बताया है कि उस समय वहां इनकी संख्या ३६५९१० थी। ये योगी लोग सारे बंगाल में फैले हुए हैं, और कपड़ा बुनने का काम करते हैं। वहां के हिन्दू-सामज में इन योगियों का कोई स्थान नहीं है। अभीतक वे वहां निम्न श्रेणी के माने जाते थे, लेकिन अब वे लोग अपना संगठन कर रहे हैं। इस प्रकार की जातियां बिहार में भी पाई जाती हैं और किसी समय संयुक्त

प्रान्त में भी थीं। दादू दयाल इसी जाति में सन १६०१ में पैदा हुए थे।

कहा जाता है कि जन्म होने के बाद ही इनकी माता ने इनको एक सन्दूक में बन्द करके साबरमती नदी में डाल दिया। अहमदाबाद निवासी लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण ने सन्दूक को नदी में बहता हुआ देखकर निकाला। जब सन्दूक में से एक नवजात शिशु मिला तो उसे वह अपने घर ले आया और उसका पालन पोषण करने लगा। कह नहीं सकते इस किंवदन्ती में कितनी सत्यता है लेकिन इस किंवदन्ती से भी उनके माता-पिता आदि के बारे में कोई बात मालूम नहीं होती। दादू कमाल के शिष्य थे। पं. चन्द्रिका प्रसादत्रिपाठी और प्रो. क्षितिमोहन सेन की आधुनिक खोजों से जाना गया है कि ये जन्म से मुसलमान थे। प्रो. सेन को बंगाल के बाउलों में दादू का उल्लेख मिला है कि दादू दयाल का नाम दाऊद था। दादू के शिष्य जन गोपाल ने 'दादू जन्मलीला परची' नामक पुस्तिका की रचना की है। इसमें दादू-दयाल के सम्बन्ध में लिखा है कि जब वे ११ वर्ष के थे तब भगवान ने स्वयं आगे आकर उनको दर्शन दिया और साथ ही उपदेश भी दिया। भगवान के दर्शन और उपदेशामृत का इनपर काफी असर पड़ा और ये उसी समय से संसार से विरक्त होकर साधु सन्तों की सेवा तथा सत्संग में अपना जीवन बिताने लगे। ये घर से एक बार निकल भी गये लेकिन माता-पिता ने इनका पीछा किया और वे इन्हें पकड़ लाये। सांसारिक बन्धन में डालने के लिए इनका विवाह कर दिया। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियां थीं। बड़े पुत्र का नाम नागरीदास था जो उनकी गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। लेकिन वे संसारिक बन्धन में कैसे बन्ध सकते थे। आखिर १९ वर्ष की आयु में वे फिर घर से निकल पड़े और लोगों को उपदेश देते हुए राजस्थान में आगये। राजस्थान

के सांभर ग्राम में आकर उन्होंने रुई धुनने का काम प्रारंभ किया लेकिन अग्नि राख में कब तक छिप सकती है ? एक दिन सांभर का काजी इनके किसी व्यवहार से रुष्ट होगया । उसने इनको दण्ड दिया । लेकिन इनको दण्ड देने का यह प्रभाव हुआ कि वह शीघ्र ही दुःख पाकर मर गया । लोगों ने इनका अलौकिक चरित्र देखा और वे इनपर श्रद्धा रखने लगे । धीरे धीरे आस पास और फिर दूर दूर तक इनकी ख्याति फैलने लगी । आपने आमेर कल्याणपुरा, नारायणा आदि स्थानों का भ्रमण किया और लोगों को उपदेश दिया । चारों ओर ख्याति फैलने पर हजारों जिज्ञासु भक्त आपके पास आने लगे और सत्संग का लाभ उठाने लगे । कहा जाता है कि दादूजी ने १२ वर्ष तक कठिन तपस्या करके योग की पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी । ये निरतन्र लययोग और भक्तिरस में झुके रहते थे । कहते हैं कि इनको वचन-सिद्धि भी प्राप्त थी । लेकिन ये करामात को पाप समझते थे । सं १६६० में आपने नारायणा में भैरव की पहाड़ी पर शरीर छोड़ा । नारायणा जयपुर से ४० मील पर है । नारायणा दादू पंथियों का तीर्थ-स्थान है । यहां प्रतिवर्ष उनकी स्मृति में फाल्गुन सुदी चौथ से द्वादशी तक मेला भरता है जिसमें पन्थी दूर दूर से आते हैं और सत्संग करते हैं ।

महात्मा दादूदयाल अनुभवी, विचारवान तथा सच्चरित्र व्यक्ति थे । वे पढ़े-लिखे नहीं थे लेकिन उन्हें भाषा का साधारण अच्छा ज्ञान था । वे कवि थे और अच्छे-अच्छे पद बनाया करते थे । दादूदयाल् महात्मा तुलसीदास के समकालीन थे । लेकिन उनपर कबीरदासजी के विचारों का बहुत गहरा असर पड़ा था । महात्मा दादूदयाल की कविता सरस, सरल और भावपूर्ण है ।

कबीरदास की ही भाँति महात्मा दादूदयाल के नाम पर भी एक नया पंथ चला जो दादू-पंथ के नाम से प्रसिद्ध है । सैद्धान्तिक

दृष्टि से इन दोनों महात्माओं की विचार-धारा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दादूजी कबीरदासजी से प्रभावित अवश्य थे लेकिन उनके और कबीरदासजी के व्यक्तित्व में काफी अन्तर है। यद्यपि कबीरदासजी की ही भाँति समाज के निचले स्तर से उनका आविर्भाव हुआ था और कबीरदासजी की ही भांति उनको भी समाज की अवहेलना और उपेक्षा का शिकार होना पड़ा था एवं इसी में से उनका विकास भी हुआ था तथापि कबीरदासजी को विषमताओं का जितना सामना करना पड़ा था उतना दादूदयाल को नहीं करना पड़ा। क्योंकि दादूदयाल के समय में कबीर का निर्गुण मतवाद काफी लोकप्रिय हो गया था। अब नीच जाति में पैदा होने वाले लोगों ने अपनी भक्तिभावना और प्रतिभा के बल पर विरोधियों को काफी प्रभावित कर दिया था। यही कारण है कि उच्च जातियों के प्रति जितनी उग्र भावना कबीरदास के काव्य में मिलती है उतनी दादूदयाल के ग्रन्थ में नहीं मिलती। कबीर के काव्य में उच्च जातियों पर बड़ा आक्रमण किया गया है, क्योंकि समाज की उस ऊंच-नीच की भावना के लिए वे ही जिम्मेदार थीं। लेकिन दादूदयाल में यह उग्रता नहीं है। वे विनयशील और मधुर-भाषी थे। दादूदयाल ने भी सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना-सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात किया है लेकिन ऐसा करते हुए वे कभी भी उग्र नहीं हुए। उन्होंने अपनी बात नम्रता और प्रेम के साथ कही है।

उनके समय में बादशाह अकबर दिल्ली के सम्राट् थे। महात्मा दादूदयाल की यश गाथा अकबर के कानों तक पहुँची। अकबर तो विद्वानों और सन्तों के प्रेमी थे ही उन्होंने महात्मा दादूदयाल को बुलाया। महात्मा दादूदयाल सीकरी लाये गये और उनके साथ सत्संग आरम्भ हुआ। बादशाह पर उनका काफी असर पड़ा। लगातार ४० दिनों तक यह सत्संग चलता रहा। बादशाह ने उनका

काफी सम्मान किया लेकिन इस शाही सम्मान से उनको थोड़ा-सा भी अभिमान नहीं हुआ । उनके ग्रन्थों में कहीं भी अभिमान की झलक नहीं है ।

दादूदयाल जी का मत था कि भक्त बनने के लिए विनम्र, शीलवान और निष्काम बनना चाहिए। उन्होंने सदैव कायरता की निंदा की है । उनका विश्वास था कि कायरता साधना के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है । उसे दूर किये बिना मनुष्य सच्चा साधक नहीं बन सकता । वे कहते थे कि जो सिर उतार कर रख सके वही सच्चा वीर है। साधक में इतनी शक्ति तो होनी ही चाहिये कि वह साहस के साथ मिथ्याचार का विरोध कर सके।

जिस प्रकार कबीरदासजी ने रूपकों का आश्रय लिया है उसी प्रकार दादूदयाल ने भी लिया है, लेकिन ज्यादा नहीं। उनकी उक्ति सीधी, सरल और मार्मिक होती है । वे बात को बहुत घुमा-फिरा कर नहीं कहते । अपने पदों में उन्होंने जहां निर्गुण, निराकार, निरंजन को व्यक्तिगत भगवान के रूप में माना है वहाँ तो उनकी कविता बड़ी ही सुन्दर हो गई है । इस प्रकार के पद उत्तम कोटि के काव्य के नमूने बन गये हैं । ऐसे अवसरों पर उन्होंने प्रेम का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। प्रेम को ही वे भगवान् का नाम, रूप और जाति मानते थे । उनके विरह के पदों में भी बड़ी मार्मिकता है । उनका विरह-वर्णन किसी भी सहृदय को मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।

दादूजी का बहुतसा समय राजपूताने में व्यतीत हुआ। अतः उनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। उनकी भाषा में प्रसाद और ओज गुण हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो वर्णन किया है वह देखने ही योग्य है । वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे अतः उनकी रचनाओं में पाण्डित्य प्रदर्शन तो नाम को भी नहीं

है । उन्होंने अपनी रचना में अलंकार आदि काव्य गुणोंको कहीं भी थोपने का यत्न नहीं किया। उनके छन्दों में ठीक-ठीक मात्राएँ तक नहीं हैं । छन्दों का नियम प्रायः भंग होता रहता है, लेकिन उनमें स्वाभाविक वेग है अतः वे प्रभाव-जनक हैं । कारण यह है कि वे पहिले भक्त थे फिर उपदेशक और फिर कवि। कविता उनकी भक्ति-भावना की साधक थी, साध्य नहीं। अपने विचारों को सरल से सरल रुप में ही प्रकट करने का उन्होंने प्रयत्न किया है। उनका ध्यान काव्य-कला सम्बन्धी नियमों के निर्वाह की ओर कम था लोक कल्याण और भक्ति भावना की ओर अधिक। अतएव उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें साहित्यिकता कम है, चोट अधिक है । दादूजी ने जो कुछ लिखा अपने साधारण ज्ञान वाले अशिक्षित पाठकों को उद्देश्य करके ही लिखा है। इन लोगों के योग्य भाषा लिखने में उनको काफी सफलता मिली है। हम कह चुके हैं कि वे कोई बड़े पंडित नहीं थे। वे जो कुछ कहते थे अपने अनुभव के बल पर ही कहते थे।

दादूदयाल जन्म से मुसलमान थे और मुस्लिम-उपासना पद्धित के संसर्ग में आ चुके थे लेकिन हिन्दुओं के सत्संग में रहने से उन पर हिन्दू भावनाओं का काफी असर है । उनका मत हिन्दू भावनाओं से ओत प्रोत है। कबीरदासजी मस्त मौला थे। उनका स्वभाव तेजस्विता के कारण कुछ उग्र भी था। लेकिन दादू-दयाल बिलकुल सीधे साधे थे। उनका स्वभाव बड़ा ही मीठा और नम्र था। अपने इस नम्र स्वभाव के कारण दादू के अनुयायियों और प्रशंसकों की संख्या कबीर के अनुयायियों से भी बढ़ गई थी। लेकिन दादू कभी भी कबीर के महत्व को नहीं भूले । उनके मन में कबीरजी के लिये बड़ी श्रद्धा थी ।

दादू दयाल मध्ययुग के सन्त हैं। अतः साधना-पद्धति और आचार-विचार के सम्बन्ध में अनेक मतभेद होते हुए भी

उस काल के सन्तों से उनका साम्य है। मध्ययुग के अन्य कवियों और साधकों की भांति उनमें भी थोड़े बहुत अंश में वे सब बातें मिलती हैं जो उनके पहिले के साधकों में थी। उस काल के अन्य सन्तों की तरह दादूदयाल का भी यह विश्वास था कि भगवान एक सर्व-शक्तिमान व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। उन्होंने भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ लिया था। उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

तुम बिन व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि।
अन्तर्जामी छिप रहे हम क्यों जीवें दूरि॥
आप अपर छन होई रहे हम क्यों रैन बिहाई।
दादू दरसन कारने तलफि-तलफि जिय जाई॥

अर्थात्—"केशव, मैं आपके बिना बेचैन हूँ। मेरी आंखों में पानी भर आया है। हे अन्तर्यामी, अगर आप छिपे रहेंगे तो मैं कैसे जी सकूँगा। आप तो स्वयं छिप रहे हैं अब मेरी रात कैसे बीतेगी? आपके दर्शन के लिए मेरा दिल निरन्तर तड़प रहा है वह निकलना ही चाहता है।"

दादूदयाल जी की गिनती निर्गुणिया सन्तों में की जाती है। लेकिन दादू निर्गुणी होकर भी भक्त पहिले थे। उनके भगवान् भक्त वत्सल हैं। इसलिए वे यद्यपि ज्ञानी थे तथापि प्रेम में विश्वास रखते थे। उनकी सबसे बड़ी कामना यह थी कि वे भगवान से प्रेम करें क्योंकि प्रेम के द्वारा ही भक्त भगवान की सारी शक्ति के रस का अनुभव कर सकता है। वे मोक्ष को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि मोक्ष प्राप्त करना भगवान के एक अंश में विलिन हो जाना—उनके मत में परम पुरुषार्थ नहीं था। उनके मत में प्रेम ही परम पुरुषार्थ था। इसलिए वे कहते हैं—

दरसन दे, दरसन दे, हौं तो तेरी मुकति न मांगों रे।
सिधि ना मांगों, रिधि ना मांगो, तुमही माँगों गोविन्दा।
जोग न मांगों, भोग न मांगों, तुमही मांगों रामजी।
घर नहीं माँगों, बन नहीं मांगों, तुमहो मांगों देवजी।
दादू तुम बिन और न जाने दरसन मांगों देहुजी।

अर्थात्—"हे भगवान मुझे दर्शन दो। मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिए। हे गोविन्द मुझे तुम्हारी सिद्धि नहीं चाहिए, मैं तुम्हीं को चाहता हूँ। हे देव, मैं घर नहीं माँगता, बन नहीं मांगता मैं तुम्हीं को माँगता हूँ। मैं और कुछ नहीं माँगता, केवल दर्शन माँगता हूँ।"

इसीलिए महात्मा दादू की परम साधना थी भगवान के साथ लीला। वे भगवान की भक्ति निर्गुण भाव से करते थे। अतः उसकी चिन्मय सत्ता में विलीन होने की इच्छा उनकी नहीं थी। बल्कि उनकी लालसा तो अनन्त काल तक उसमें रमते रहने की थी। संत दादू भगवान के साथ लीला में रत हैं—

रंग भरि खेलों पवीसों तहँ बाजे बेनु रसाल।
अकल पाट करि वैठ्या स्वामी प्रेम पिलावे लाल।।
रंग भरि खेलों पवीसों कबहु न होंहि वियोग।
आदि पुरुष अन्तरि मिल्या कछु पूरब के योग।।
रंग भरि खेलों पीवसो बारह मास बसन्त।
सेवग सदा अनन्द है जुगि जुगि देखों कंत।।

अर्थात्—"प्रिय से रंग भर के खेलता हूँ, जहां रसीली वेणु बज रही है। अखण्ड सिंहासन पर प्रेम व्याकुल स्वामी बैठे हैं और प्रेम रस का पान करा रहे हैं। रंग भर के प्रिय के साथ खेल रहा हूं, यहां कभी वियोग की आशंका नहीं है। यह कुछ

पूर्व का संयोग है कि आदि पुरुष अन्तर में ही मिल गया है। रंग भर के प्रिय से खेल रहा हूँ। यहाँ बारहों महीने वसन्त है। सेवक को सदा आनन्द है कि युग युग तक वह कान्त को देखता है।"

मध्य युग में भक्ति का जो आन्दोलन हुआ उसमें भगवान और भक्त को समान बताया गया है। प्रेम का आधार ही समानता का है। तुलसीदासजी सगुणोपासक थे अतः उन्होंने तो इससे भी आगे बढ़कर यहां तक कह दिया था कि—

'राम ते अधिक राम कर दासा'

तुलसीदासजी की चौपाई का यही अर्थ है कि प्रेम की दुनिया में सब समान हैं। वहां छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है। भगवान तो प्रेम के वश में हैं दादूदयालजी कहते हैं—

राम जपै रुचि साधुको, साधु जपे रुचि राम ।
दादू दोनों एक ढंग, सम अरम्भ सम काम ॥

अर्थात्—"साधु की रुचि है राम को जपने की और राम की रुचि है साधु को जपने की । दोनों ही एक भाव के भावुक हैं। दोनों के आरम्भ समान हैं, कामनाएं समान हैं।"

दादूदयालजी प्रेम को परम पुरुषार्थ मानते थे उसकी अपार क्ति पर मुग्ध थे। वे कहते हैं—

इश्क अलह की जाति है इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह मौजूद है, इश्क अलह का रंग ॥
बाट विरह की सेधि करि पंथ प्रेम का लेहु ।
लव के मारग जाइये दूसर पांव न देहु ॥

अर्थात्—प्रेम ही भगवान की जाति है, प्रेम ही भगवान की देह है। प्रेम ही भगवान की सत्ता है, प्रेम ही भगवान का रंग है। विरह का मार्ग खोजकर प्रेम का रास्ता पकड़ो। लव के रास्ते जाओ। दूसरे रास्ते पैर न रखना।"

प्रेम की तरह भक्ति पर भी दादूदयालजी ने काफी जोर दिया है। वे कहते हैं कि जिस तरह भगवान अपरंपार है उसी प्रकार भक्ति भी है। उन्होंने मुक्त कंठ से भक्ति की महिमा गाई है। उन्होंने लिखा है—

जैसे राम अपार है तैसी भगति अपार।
इन दोनों की मित नहीं सकल पुकारे साध॥
जैसा अविगत राम है तैसी भगति अलेख।
इन दोनों की मित नहीं सहस मुखी कहे सेख॥
जैसा निर्गुण राम है भगति निरंजन जान।
इन दोनों की मित नहीं संत कहे परवान॥
जैसा पूरा राम है पूरन भगति समान।
इन दोनों की मित नहीं दादू नाहीं आन॥

अर्थात्—जैसे राम अपार हैं भक्ति भी उसी प्रकार अगाध है। सभी साधुओं ने पुकार पुकार कर कहा है कि इन दोनों की कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार राम अविगत है भक्ति भी उसी प्रकार अलेख्य है। दोनों की कहीं सीमा नहीं है यह शेष हजार मुँह से कह रहे हैं। राम जैसे निर्गुण हैं भक्ति भी वैसी ही निरंजन है। इन दोनों की कोई सीमा नहीं है—ऐसा सन्तों ने निश्चय किया है। जैसे राम पूर्ण हैं ठीक उसी प्रकार भक्ति भी पूर्ण है। इन दोनों की कोई सीमा नहीं है। ये दोनों दो चीजें भी नहीं हैं।"

इस प्रकार दादूजी के काव्य में भगवान, भक्त, प्रेम, और भक्ति की महिमा भरी पड़ी है।

दादूजी ने नाम की महिमा भी खूब गाई है। वे कहते हैं—"प्रभु के नाम में ही मति, बुद्धि, ज्ञान, प्रेम, प्रीति है।"

साहिब के नाम मां मति, बुद्धिज्ञान विचार ।
प्रेम प्रीति सनेह सुख दादू सिर जन हार ॥

वे अपनी दीनता पर जोर देते थे और आत्मसमर्पण में उनका विश्वास था। उनका यह भी विश्वास था कि भगवान की कृपा से ही मुक्ति मिल सकती है।

दादूजी ने नाथ पंथियों व सहजयान्यिों के बहुत से शब्द पद और दोहे ज्यों के त्यों अपना लिए थे। इनमें इधर उधर थोड़ा परिवर्तन भी मिलता है। इसका अर्थ यही है कि उन्होंने बहुत सी बातें अपने पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थीं। लेकिन उन्होंने ये सब अपने ढंग से ग्रहण किये थे। उन्होंने कबीर-दासजी के बारे में लिखा है—

निर्गुण बृह्म को किया समाधू। तब ही चले कबीरा साधू॥
तुर्क की राह खोज सब छाड़ी। हिन्दू के करनी ते पुनि न्यारी॥

अर्थात्—"कबीरदास ने निर्गुण ब्रह्म की समाधि के विषय में मुसलमानों का रास्ता छोड़ दिया था और वे हिन्दुओं के कर्म कलाप से भी अलग होगये थे।" यही बात उनके अपने विषय में भी है। वे उस स्थान पर थे जहां अल्लाह और राम का कोई भेद नहीं है और जो सम्प्रदायों के घेरों से दूर है। वे साधना को प्रतिदिन के जीवन में मिला देना चाहते थे। वे चाहते थे कि दैनिक जीवन और शाश्वत-साधना में अविरोध भाव रहे यही उनका 'सहज पन्थ' है।

दादूजी के छन्द, भाषा, भाव, अलंकार, विषय पद, सब भारतीय परंपरा के अनुकूल हैं। उनके परिभाषिक शब्द, उनका

रूढ़ि विरोध, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति सब कुछ उनके पूर्व वर्ती साधकों के अनुकूल है। लेकिन उसमें आत्मा उनकी अपनी है। उनमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है। दादूजी की कवित्व शक्ति और अनुभव आश्चर्यजनक थे। इस सम्प्रदाय के अन्यान्य भक्तों की भांति ये भी सम्प्रदाय गत शास्त्रीय संस्कारों से मुक्त थे। इसलिए उन्होंने सब स्थानों से सत्य ग्रहण किया था और उसे अपने शब्दों में सीधे-साधे ढंग से व्यक्त कर दिया था। इसीलिए उन्होंने जो कुछ कहा वह बड़ा मार्मिक है उनकी सरलता, मार्मिकता और अनुभव का नमूना देखिये—

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर।
दादू वकता बहुत हैं मथि काढ़े ते और॥ १
दादू दीया है भला दिया करो सब कोय।
घर में धरा न पाइजे, जो कर दिया सो होय॥ २
कहि कहि मेरी जीभ रंहि, सुणि सुणि तेरे कान।
सत गुरु बपुरा क्या करे, जो चेला मूढ़ अजान॥ ३
दादू देख दयाल को, सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्यो, तू जिनि जाने दूर॥ ४

दादूदयालजी का दादू पंथ राजस्थान में काफी लोकप्रिय हुआ, क्योंकि यहीं दादूजी ने उसका प्रचार भी अधिक किया था। कबीर की भाँति वे भी निर्गुण निराकार के उपासक थे और मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, आदि के विरोधी थे। आपने भी कबीर की ही भाँति प्रेम, शब्द, नाम, सद्गुरू आदि की महिमा गाई है। दादू पंथ में मुख्यतः चार प्रकार के साधु पाये जाते हैं—खाकी, विरक्त, थांभाधारी और नागे। खाकी साधु शरीर पर भस्म लगाते हैं और सिर पर जटा बढ़ाते हैं। विरक्त कौपीन बांधते हैं, कषाय वस्त्र पहनते हैं और हाथ में तूँबी रखते हैं। विरक्त साधु अपना समग्र भजन-

कीर्तन तथा ज्ञान-चर्चा में व्यतीत करते हैं। नागे और थांभाधारी, सफेद वस्त्र पहनते और खेती, नौकरी, वैद्यक आदि के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। नागे साधु बड़े वीर, साहसी और रण-कुशल होते हैं। जयपुर की सेना में एक नागा जमात भी है। आचार्य हरिप्रसादजी द्विवेदी का कहना है कि "दादूदी कहते थे कि—वही साधक हो सकता है जो वीर हो, जो सिर उतार कर रख सके। कबीर (क–वीर) अपना सिर काट कर—'क' अक्षर छोड़कर ही वीर हो सके थे । जो साहस के साथ मिथ्याचार का विरोध न कर सके वह वीर भी नहीं और वह वीर साधक भी नहीं । दादू के इस कथन का बेढंगा अर्थ करके बाद में उनके एक शिष्यों का दल—नागा—केवल लड़ाकू ही रह गया।"

सभी प्रकार के साधुओं के लिये विवाह करने की मनाई की गई है । अतः दादू पंथी साधु लोग गृहस्थों के लड़कों को चेला बनाकर ही अपना पंथ चलाते हैं। दादू पंथ के अनुयायी न तिलक लगाते हैं, न चोटी रखते हैं और न गले में कंठी पहिनते हैं । वे अपने हाथ में सुमरनी रखते हैं और जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो 'सत्त राम' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। दादू-पंथी मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते । वे तो निरंजन, निराकार परब्रह्म की सत्ता को मानते हैं। ये लोग दादूजी की वाणी का बड़ा आदर करते हैं। अपने अपने स्थानों में दादूजी की वाणी रखते हैं, उसीका अध्ययन करते हैं और उन्हीं के गीतों को बैठकर गाते हैं। वे दादूजी के अन्य प्रधान शिष्यों की वाणियों का भी इसी प्रकार आदर करते हैं । नारायणा जयपुर इनका तीर्थ स्थान है । इसी स्थान पर दादूजीने अपना शरीर छोड़ा था। अतः यह स्थान दादू पंथियों का बड़ा पवित्र स्थान है। यहां पर मेले के समय जो फाल्गुन में लगता है लोग एक बड़ी संख्या में आते हैं और दादूजी के ग्रन्थ, कपड़ों आदि की पूजा करते हैं जो कि यहाँ सुरक्षित हैं।

दादूजी ने अपने पंथ के विषय में स्वयं कहा है—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरण एक अधारा।
बाद विवाद काहु सौं नाही मैं हूँ जगते न्यारा॥
सम दृष्टि सू भाई सहज में, आप ही आप बिचारा।
मैं, ते, मेरी, यह मति नाही निरबेरी निरबिकारा॥
काम, कलपना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहज संभारा॥

महाराणा प्रताप

"न्याय्यात्पथः प्रविचलंति पदं न धीरः"

—भर्तृहरि

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप का जीवन आजादी की मस्ती से शराबोर है, साधना की प्रखरता से जगमग है और सैकड़ों बार तपाये हुए स्वर्ण की भांति शुद्ध, निर्दोष और अमूल्य है। वह तपस्या, त्याग और बलिदान की ज्वलंत कहानी है। महाराणा प्रताप ने राजसिंहासन पाकर भी स्वदेश और स्वधर्म के लिए वनवास ले लिया था। उन्होंने वैभव विलास छोड़कर जंगल की मुसीबत और दरिद्रता अपनाई थी, सोने चाँदी के बर्तन छोड़कर पत्तों के दोने और पत्तल पसन्द किये थे, ऊँचे-ऊंचे विशाल राज-भवनों को छोड़कर पहाड़ की गुफाओं को पसन्द किया था तथा रानी और कुमार-कुमारियों के सुख को छोड़कर स्वतन्त्रता देवी के निराकार चरणों को अपनाया था। वे निर्वासित की भांति पहाड़-पहाड़ टकराते फिरे, जगह-जगह युद्ध की अग्नि में जलते रहे, भूखे-प्यासे बच्चों की चित्कार सुनते रहे लेकिन विचलित नहीं हुए। यही कारण है कि आज वे हमारे प्रकाश स्तंभ हैं, स्वातंत्र्य देवता हैं और हैं गौरव निधान!

महाराणा प्रताप का जन्म मेवाड़ के सुप्रसिद्ध सीसोदिया वंश में जेष्ठ सुदी ३ सं. १५९७ (ता. ९ मई सन् १५५०) को

हुआ। वे महाराणा उदयसिंह के पुत्र और राणा संग्रामसिंह (सांगा) के पौत्र थे। महाराणा प्रताप के बाल्यकाल का वर्णन किसी इतिहास में नहीं मिलता। लेकिन उनका बाल्यकाल अवश्य ही महत्त्वपूर्ण घटनाओं से भरा हुआ रहा होगा। महाराणा उदयसिंह महारानी भटियानी से विशेष प्रेम करते थे। अतः प्रताप के जेष्ठ पुत्र होने पर भी उन्होंने उनको अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया। उन्होंने महारानी भटियानी के पुत्र जयमल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इस नियुक्ति के बाद जयमल ने राजसिंहासन-पर अधिकार कर लिया। लेकिन यह अनौचित्य महाराणा प्रताप के मामा को सहन नहीं हुआ। उन्होंने अन्य सामन्तों से परामर्श किया। वे सामन्तों से बोले—"अकबर जैसा प्रबल शत्रु सामने है, चित्तौड़ का सुदृढ़ दुर्ग हमारे हाथ से निकल गया है और मेवाड़ उजड़ा पड़ा है। ऐसी अवस्था में जयमल की नियुक्ति स्थिति को संभाल नहीं सकती। उससे तो स्थिति और बिगड़ेगी। मेवाड़ के हित की दृष्टि से क्या आप चुपचाप रहना ही पसन्द करेंगे? क्या आप अनौचित्य पसन्द कर लेंगे?" सामन्तों ने स्थिति की गंभीरता अनुभव की। सत्य और न्याय का तकाजा भी यही था। अतः सामन्तों ने मिल कर जयमल को गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर महाराणा प्रताप को राजसिंहासन पर बिठाया। राजसिंहासन पर बैठा कर सबने उनको हार्दिक आशीर्वाद दिया और उनका अभिनंदन किया। जयमल को राजच्युत होने से बड़ा बुरा लगा। यह स्वाभाविक भी था। वह नाराज होकर अकबर के पास चला गया। अकबर ने उसे जहाजपुर का प्रान्त और सिरोही का आधा राज्य दे दिया। लेकिन मौका पाकर सिरोही के राव सुरताण देवड़ा ने उस पर अचानक आक्रमण कर दिया और उसे सेना सहित धराशायी कर दिया।

महाराणा प्रताप के एक भाई शक्तिसिंह भी थे। ये भी

प्रताप की ही भांति वीर, साहसी एवं शक्तिशाली थे। दोनों भाई आपस में बड़े प्रेम से रहते थे लेकिन दुर्देव से यह सब नहीं देखा गया। एक दिन दोनों भाई शिकार के लिए गये। शाम को जब वे लौट रहे थे तो उन्होंने एक भागते हुए हरिण को देखा। दोनों भाइयों ने एक साथ बाण छोड़े। दोनों बाण से वह जख्मी होकर गिर गया। प्रतापसिंह प्रसन्नतापूर्वक घोड़े से कूद कर हरिण के समीप पहुँचे और शक्तिसिंह से बोले—"देखो शक्तिसिंह मेरा बाण कितना ठीक लगा है।" शक्तिसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। बोले—"भाई साहब, यह मेरा बाण है आपका नहीं। आप मुझे व्यर्थ ही भ्रम में डाल रहे हैं"। प्रतापसिंह को गुस्सा आया। शक्तिसिंह की भर्त्सना करते हुए बोले—"क्या कहा रे सत्य के अवतार! क्या मैं झूठ बोल रहा हूँ?" धीरे धीरे वाद-विवाद वितण्डावाद बन गया। दोनों भाइयों ने तलवारें म्यान से बाहर निकाल ली और एक दूसरे पर वार करने लगे। लेकिन इसी बीच कुल के पुरोहित जो कि घटनास्थल पर उपस्थित थे दोनों के बीच में आकर खड़े हो गये। पुरोहित ने इस अनर्थकारी गृह कलह का अन्त करने के लिए कहा लेकिन इस समय तो दोनों क्रोधावेश में थे। उसकी बातें कौन सुनता? दोनों ने एक दूसरे पर बड़े जोर के प्रहार किये। तलवारें पुरोहितजी के कन्धे पर पड़ी और वे वहीं मर गये। इस निर्दोष ब्राह्मण के बलिदान ने भाइयों के क्रोध को ठंडा कर दिया। वे दोनों बड़े लज्जित हुए। लेकिन ईर्षा की जो आग जल उठी थी शान्त न हो सकी। महाराणा बोले—"शक्तिसिंह इस निरपराध ब्राह्मण की हत्या के अपराधी तुम हो। इस अभियोग में मैं तुम्हें निर्वासन की आज्ञा देता हूँ।" शक्तिसिंह ने निर्वासन की आज्ञा को शिरोधार्य किया और मातृभूमि को प्रणाम करके चले गये। जयमल की भांति वे भी मुग़ल दरबार में पहुँचे और बादशाह अकबर के कृपापात्र

बन गये। इतना ही नहीं किसी कारण से सगर भी महाराणा से असन्तुष्ट हो गया और कुँवर मानसिंह के द्वारा सम्राट अकबर की सेवा में चला गया। "क्षते प्रहारा निपतन्त्य भीक्ष्णम्।" ठोकर के ऊपर ठोकर लगा करती है। आमेर और जोधपुर के राजाओं ने अकबर को अपनी बहन-बेटियाँ देकर रिश्ता जोड़ लिया और राजस्थान के अन्य राजा भी उनका अनुसरण करके अपने को भाग्यशाली समझने लगे। लेकिन प्रताप अपने धर्म पर दृढ़ थे। ये पतित राजा महाराणा से ईर्षा करने लगे। उनके शस्त्रास्त्र देशद्रोहियों का दमन करने की अपेक्षा प्रताप के ही प्रतिकार के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

इस प्रकार जब महाराणा प्रताप राजगद्दी पर बैठे तब स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी। राणा उदयसिंह में अपने पूर्वजों की भांति बल और पौरुष नहीं था। एकबार स्वयं महाराणा प्रताप ने कहा था कि यदि राणा सांगा और उनके बीच उदयसिंह न होते तो मेवाड़ की दशा इतनी शोचनीय न होती। लेकिन हतोत्साह होना तो महाराणा ने सीखा ही नहीं था। स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा के लिए उन्होंने कमर कस ली और निश्चय किया कि यदि दुनिया भी विरुद्ध हो जाय तो भी वे विचलित न होंगे। गृह-कलह फूट और देश द्रोहियों की भरमार से वे तनिक भी हतोत्साह नहीं हुए। उन्होंने मेवाड़ की कीर्ति पुनः स्थापित करने का संकल्प किया। उन्होंने राजप्रबन्ध में समयोचित सुधार किये और कुछ परिवर्तन भी किये। उन्होंने कमलनेर और गोगूंदा के किलों को अधिक सुदृढ़ एवं सुरक्षित बनाने की आज्ञा दी। मुगल फौजों को कष्ट देने के उद्देश्य से उन्होंने मेवाड़ के उर्वर भूमि खण्डों को निर्जन बना देने की आज्ञा भी दी। उनकी इस नीति से मुगलों के वैदेशिक व्यापार को बड़ा धक्का लगा क्योंकि सूरत के बन्दरगाह का रास्ता मेवाड़ होकर ही जाता था। महाराणा की इस नीति से यह रास्ता डाकुओं की क्रीड़ा भूमि बन गया।

महाराणा देख रहे थे कि मुगल साम्राज्यवाद का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। लेकिन उन्हें यह भी विश्वास था कि "जो दृढ़ राखे धर्म को तेहि राखे करतार"। अपने इसी बल पर उन्होंने क्षण भर के लिए भी इस बात की चिन्ता नहीं की कि अकबर जैसे महान सम्राट से लड़ने के लिए उसके मुकाबले में पासंग जैसी शक्ति भी उनके पास नहीं है। उन्होंने राजकीय वैभव विलास एवं प्रभुता प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को सदा के लिए तिलाञ्जलि दे दी और प्रतिज्ञा की कि जबतक देश का उद्धार नहीं होगा, तब तक राजमहलों का त्याग करके पहाड़ों में रहूंगा। पलंग छोड़कर तृण की शय्या पर सोऊँगा और षट्रस भोजन छोड़कर जंगली फलों का आहार करूंगा। उनके इस दृढ़ निश्चय ने ही उनमें पर्वतों को हिला देने की शक्ति उत्पन्न कर दी।

ऊपर कहा जा चुका है कि उस समय बड़े बड़े राजपूत राजा भी अपनी स्वतन्त्रता और स्वधर्म को तिलाञ्जलि दे रहे थे। सभी सम्राट अकबर की कृपा कटाक्ष के लिए—वैभव और प्रभुता के लिए—अपनी बहन, बेटियां, स्वधर्म, स्वतन्त्रता सब कुछ बेच रहे थे। इस वर्ग में प्रमुख थे आमेर के राजा भगवानदास के दत्तक पुत्र मानसिंह। भगवानदास ने अपनी कन्या का विवाह अकबर से कर दिया था। मानसिंह अकबर के साले बन गये। वे साहसी चतुर एवं समर विशारद थे। अकबर ने उनको अपना सेनापति बनाया। सेनापति बनकर उन्होंने अनेक देशों को जीता और मुगल साम्राज्य को काफी बढ़ाया। मानसिंह की वीरता और कुशलता से अकबर काफी प्रभावित हुआ। साले-बहनोई में काफी प्रेम होगया। राजपूतों का यह पतन महाराणा प्रताप के लिए असह्य था। वह उन्हें रह रह कर चुभता था।

गुजरात विजय कर लेने के बाद अकबर का ध्यान राजस्थान की ओर गया। अतः जब गुजरात का विद्रोह शान्त करके

मानसिंह दिल्ली लौट रहे थे तब सम्राट ने आज्ञा दी कि वे राजपूताने की दक्षिणी रियासतों को शाही सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य करें। विक्रम सं. १६३० के अषाढ़ मास में (जून १५७३ में) सम्राट की आज्ञानुसार मानसिंह उदयपुर आये। जहां तक मानसिंह की वीरता का सम्बन्ध था महाराणा उनके प्रशंसक थे अतः वे राजकुमार अमरसिंह के साथ उनका स्वागत करने के लिए पहुंचे। महाराणा ने उनके आदर सत्कार में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। मानसिंह ने अपने भाग्य की सराहना की और महाराणा से आग्रह किया कि वे भी अकबर की आधीनता स्वीकार करलें। उन्होंने बताया कि इसी में महाराणा का हित निहित है। महाराणा ने उनकी वीरता की प्रशंसा की लेकिन अकबर की आधीनता स्वीकार नहीं की। मानसिंह के सारे प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हुए। जिस दिन मानसिंह बिदा होने वाले थे महाराणा ने उनको एक प्रीति भोज दिया। लेकिन जब भोजन का समय आया और भोजन परोस भी दिया गया तो महाराणा नहीं आये। उन्होंने राजकुमार अमरसिंह को भेज दिया। मानसिंह ने राजकुमार से महाराणा की अनुपस्थिति का कारण पूछा। राजकुमार ने उत्तर दिया—"वे कुछ अस्वस्थ हैं अतः भोजन के लिए आने में असमर्थ हैं।" मानसिंह का माथा ठनका। वे महाराणा की अनुपस्थिति का कारण समझ गये। उनको महाराणा के इस व्यवहार से मर्मान्तक वेदना हुई। वे मन ही मन लज्जित भी हुए। अपने को संभाल कर बोले—"अच्छा, महाराणा के सिर दर्द की दवा लेकर मैं शीघ्र ही दिल्ली से लौटूँगा।" इतना कहकर वे उठ खड़े हुए और दिल्ली के लिए रवाना हो गये। मुगलों के सम्पर्क के कारण ही महाराणा ने मानसिंह को अपवित्र समझा था और उनके साथ भोजन करने से इन्कार कर दिया था।

मानसिंह वहां से चलकर सीधे आगरा पहुँचे और शाही

दरबार में उपस्थित हो कर अकबर से महाराणा के स्वागत सत्कार की सारी बातें कहदीं। अकबर ने सब बातें सुनकर कहा—मानसिंह यह आपका नहीं मेरा अपमान है। अतः बड़ी से बड़ी कीमत देकर भी इस अपमान का बदला लिया जायगा।" यह निश्चय किया गया कि महाराणा का गर्व चूर करने के लिए मानसिंह को ही भेजा जाय। तैयारियाँ होने लगी। सं. १६३३ में चैत्र शुक्ला ५ को एक बड़ी सेना लेकर मानसिंह ने मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया। कुछ ही दिन में वह मांडलगढ़ पहुँच गया और वहाँ रुककर अपनी सेना को लड़ाई के लिए तैयार करने लगा। जब यह समाचार महाराणा को मिला तो वे कुशलगढ़ से गोगूंदा आ गये। गोगूंदा का किला पहाड़ी प्रदेश में स्थित है। पहाड़ी प्रदेश में ही अकबर की विशाल सेना का अच्छी तरह मुकाबला किया जा सकता था। मानसिंह ने मांडलगढ़ से रवाना होकर खमणोर के समीप हल्दीघाटी से कुछ दूर बनास नदी के किनारे अपना डेरा डाला। इधर अपनी तैयारियां पूरी करके महाराणा भी गोगूंदा से चले और मानसिंह से तीन कोस की दूरी पर ठहर गये। युद्ध आरम्भ होने से एक दिन पहिले मानसिंह एक हजार साथियों के साथ शिकार खेलने के लिए निकले और शिकार खेलते हुए अपने डेरे से बहुत दूर निकल गये। गुप्तचरों ने यह समाचार महाराणा को सुनाया। सामन्तों ने भी कहा—शत्रु पर आक्रमण करने का इससे अच्छा मौका नहीं आ सकता। इस समय उसे बड़ी आसानी से बन्दी बनाया जा सकता है। लेकिन महाराणा ने कहा—"यह अधर्म है।" महाराणा ने इस अवसर को ठुकरा दिया। महाराणा के इस निर्णय में कितनी क्षत्रियोचित भावना थी, कितना आत्मविश्वास! ३१ मई सन १५७६ को प्रातः काल होते ही हल्दीघाटी के प्रांगण में दोनों सेनाएँ आ पहुँची। दोनों ओर से तलवरें चमक उठीं।

सचमुच बड़ा ही रोमांचकारी दृष्य था। संख्या में मुगल सेना बहुत थी लेकिन वीरता और पवित्रता में महाराणा की सेना कितनी अधिक भारी थी। यदि आलंकारिक भाषा में दोनों पक्षों का ठीक-ठीक वर्णन करें तो 'शिशु'जी के शब्दों में कह सकते हैं—

एक ओर जन-तन्त्र-वाद पर संकट आने से था क्षोभ।
एक ओर साम्राज्यवाद को विस्तृत करने का था लोभ॥
एक ओर था 'प्रजा' शब्द का अर्थ प्राण से प्रिय संतान।
एक ओर था 'प्रजा' शब्द का अर्थ लूटने का सामान॥
या यों कहें कि एक ओर था मर्यादा पालन का भार।
एक ओर था वंश लीक पर उच्छृङ्खलता का व्यापार॥
एक ओर था उदह शूर से भोजन करना अस्वीकार।
एक ओर था दिल्ली से औषधि लाने का व्यङ्ग विचार॥

मानसिंह की ओर थे असंख्य भोगी योद्धा जो परतन्त्रता की जंजीर लेकर देश को बांध देने के लिए उत्सुक थे लेकिन महाराणा की ओर थे स्वधर्मोपासक मेवाड़ी जो स्वतन्त्रता और स्वधर्म के लिए अपना सब कुछ मिटा देने को तैयार थे।

मानसिंह ने बड़े उत्साह के साथ व्यूह रचना की। उसने अपने अच्छे अच्छे वीरों को हरावल में, चन्दावल में तथा पार्श्व में रखा। वह स्वयं एक हाथी पर चढ़कर मध्य में रहा। इस व्यूह रचना से महाराणा तनिक भी चिन्तित नहीं थे। उन्होंने भी अपनी सेना को उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त किया और स्वयं चेतक पर चढ़कर अपनी सेना के मध्य भाग में खड़े हो गये। मानसिंह और प्रतापसिंह दोनों ही वीर थे दोनों ही मान के लिए अपना सर्वस्व होम देने को तैयार खड़े थे। लेकिन दोनों के 'मान' की परिभाषा कितनी भिन्न थी।

महाराणा सबसे पहिले आगे बढ़े और घाटी से आगे बढ़कर शेर की भांति मुगल सेना पर टूट पड़े। वे शत्रुदल का सफाया करने लगे और देखते ही उसके मध्य में पहुँच गये। इस समय उनकी आंखे मानसिंह को ढूंढ़ रही थीं। उन्होंने कुछ देर बाद देखा कि मानसिंह शाहजादे सलीम के साथ एक हाथी पर बैठे हैं। मानसिंह को देखते ही उनका चेहरा क्रोध से लाल हो गया और वे विद्युत वेग से उसकी ओर झपटे। पलक मारते ही वे मानसिंह के सामने जा पहुँचे। मानसिंह को ललकार कर बोले —"मानसिंह सावधान! देख तेरा काल आ पहुँचा है।" इतना कहते ही चेतक को संकेत किया और चेतक ने अपने दोनों पैर मानसिंह के हाथी के ऊपर रख दिये। महाराणा ने देखते ही देखते अपना भयंकर भाला मानसिंह पर चला दिया। तकदीर से मानसिंह और सलीम दोनों ही बाल बाल बच गये लेकिन महावत की जीवन लीला समाप्त हो गई और वह बेचारा धड़ाम से जमीन पर गिर गया। निरंकुश हाथी रंगभूमि से भाग निकला। सेनापति को भागते देख मुगल सेना में भी भगदड़ मच गई। मुगल सेना भागी और उसने पांच छः कोस दूर जाकर विश्राम लिया। इस प्रकार दोपहर के समय ही हल्दीघाटी की लड़ाई समाप्त हो गई। महाराणा ने समझा मानसिंह मर गया और वे गोगूंदे की ओर चल पड़े। उनके शरीर में ७ घाव लगे थे जिनके कारण वे खून से लथपथ हो रहे थे। बेचारे चेतक की भी यही दशा थी। उसके पिछले पैर में बड़ा जख्म था लेकिन बेचारा बिना रुके चला जा रहा था। युद्ध समाप्त हो गया था लेकिन विजय-हार का फैसला नहीं हुआ था। इसलिए वे मन-ही-मन कह रहे थे—"अरे हतभाग्य प्रताप! तू स्वदेश की रक्षा न कर सका और अब प्राण लेकर भागा जा रहा है।" उनकी सेना भी अस्त-व्यस्त होकर भाग रही थी। विचार मग्न महाराणा को पता नहीं

था कि कोई उनका पीछा कर रहा है। उनके पीछे पीछे बड़ी तीव्र गति से दो मुगल सवार बढ़े चले आ रहे थे। रास्ते में एक छोटीसी नदी थी। चेतक ने एक ही छलांग में उसे पार कर लिया लेकिन मुगल सैनिकों को उसे पार करने में कुछ समय लगा और महाराणा और उनका फासला कुछ बढ़ गया लेकिन चेतक जख्मी था उसकी चाल मन्द पड़ रही थी। नदी पार करके सवार पास आ गये। इसी समय शक्तिसिंह उधर से आते हुए दिखाई दिये। शक्तिसिंह के दिल में निर्वासन के दिनसे प्रतिहिंसा की ज्वाला जल रही थी। अपने अपमान का बदला लेने के लिए ही वे इस युद्ध में आये थे। लेकिन जब अपने ओर की व्यूह रचना के मध्य में खड़े होकर उन्होंने सारा दृष्य देखा तो उन्हें अपने ऊपर लज्जा आई। स्वधर्म और स्वदेश के लिए सर्वस्व लुटाने के लिए तैयार खड़े हुए राजपूतों को और उनके नेता महाराणा को देखकर उनका राजपूत रक्त अपने पतन पर हाहाकार कर उठा। महाराणा की वीरता का भी उनपर कम असर नहीं हुआ था। इसीलिए वे उनके पीछे पीछे चले आ रहे थे। पठानों को देखकर वे उनके ऊपर क्रुद्ध शेर की भांति झपटे और उन्हें सदा के लिए धराशायी बना दिया। महाराणा अपने विचारों में मग्न आगे बढ़ते चले जा रहे थे। उन्हें पीछे की कुछ खबर नहीं थी। शक्तिसिंह अपनी मेवाड़ी भाषा में पुकार उठे—"ओ नीला घोड़ा रा असवार ठेरजो हो......" निर्जन वन में परिचित आवाज सुनकर प्रताप चकित हो गये। उन्होंने पीछे घूमकर देखा और रुक गये। जब उन्होंने देखा कि शक्तिसिंह उनको पुकार रहे हैं तो सचेत हुए। चेतक काफी थक गया था अब उसमें शक्ति नहीं थी अतः वे नीचे उतरे और आहत सिंह की भांति अपने हाथों में तलवार लेकर शक्तिसिंह की प्रतीक्षा में खड़े हो गये। जब शक्तिसिंह पास आ गये तो बोले—"मेरी उत्कट इच्छा थी

कि मातृभूमि की स्वतंत्रता की रक्षा करते करते मर जाता लेकिन चेतक ने न माना। वह मुझे जबरदस्ती इधर ले आया। लो यह कटार और इसे मेरी छाती में भोंककर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लो। शाही दरबार का गुलाम बनने की अपेक्षा मर जाना मैं कई गुना ज्यादा पसन्द करता हूँ।" शक्तिसिंह लज्जित होकर महाराणा के चरणों में गिर गये। बोले—"दादाजी, मैं अपनी अवस्था पर बहुत लज्जित हूँ। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं गलत रास्ते पर था। मैं क्षत्रिय कुल कलंक हूँ। मुझे क्षमा कीजिये।" महाराणा का हृदय द्रवित हो गया। दृष्य बड़ा ही रोमांचकारी था। ऐसा प्रतीत होता था मानो भरत-मिलाप की पुनरावृत्ति हो रही है। दोनों भाई बड़े देर तक एक-दूसरे को गले से लगाये हुए रोते रहे। उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बहते रहे और उन आँसुओं में हृदय का सारा कल्मश, सारी कटुता और सारा कलंक बह रहा था।

लेकिन दुर्भाग्य इस पवित्र अवसर को ज्यादा देर तक सहन नहीं कर सका। चेतक ने निर्वाणोन्मुख दीपक की भांति एक बार महाराणा की ओर देखा और सदा के लिए आंखें मूँद लीं। चेतक को अंतिम सांस लेते देखकर महाराणा अपने को रोक न सके। वे उसके वियोग में बड़ी देर तक विलाप करते रहे। हल्दी घाटी से दो मील दूर बलीचा गांव के निकट एक नाले के पास आज भी चेतक की समाधि है। प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता पं. गोरीशंकर हीराचन्दजी ओझा उपर्युक्त घटना को प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कथन है कि हल्दी घाटी के युद्ध के समय सलीम केवल ६ वर्ष का था अतः उसका रणभूमि में उपस्थित होना असत्य है। दूसरे शक्तिसिंह उदयपुर चढ़ाई करने के पहिले ही शाही दरबार से भागकर आ गये थे। जो भी हो इस हल्दी घाटी के युद्ध में महाराणा ने जिस वीरत्व का परिचय दिया वह चिरस्मरणीय रहेगी।

महाराणा कोल्यारी गांव में ठहरकर आहतों की चिकित्सा कराने लगे। अच्छे हो जाने पर क्षत्रियों ने भीलों की सहायता से मुगल सेना के पहाड़ी रास्ते और नाके रोक दिये। शाही सेना के पास खाद्य सामग्री पहुँचना बन्द हो गया। महाराणा मौका देख-कर आक्रमण कर देते और मारकाट मचाकर पर्वतों में चले जाते। पूरे चार महीने तक मानसिंह अपनी सेना के साथ एक बन्दी की भांति गोगून्दे में पड़ा रहा। वह बहुत प्रयत्न करके भी महाराणा का कुछ नहीं बिगाड़ सका।

पार्वत्य प्रदेशों में लूट-मार करते समय एक बार बेरमखाँ के पुत्र मिर्जा खानखाना की स्त्रियाँ कुँवर अमरसिंह के हाथ पड़ गई। महाराणा ने उनके साथ अपनी बहन-बेटियों-का-सा व्यवहार किया और प्रतिष्ठा के साथ उन्हें उनके पति के पास पहुँचा दिया। महाराणा की इस उदारता पर शत्रु खानखाना के भी मुंह से निकल पड़ा—"जगत की वस्तुएं अनित्य हैं। एक दिन राज्य और धन अवश्य लुप्त होंगे। लेकिन महाराणा प्रताप जैसे महापुरुष की कीर्ति सदैव अक्षुण्य बनी रहेगी। इसी महाराणा ने क्षत्रिय कुल के गौरव की रक्षा की है।"

इस बार अपार मुगल सेना के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने का आयोजन किया। शहबाजखाँ के सेनापतित्व में एक बहुत बड़ी सेना भेजी गई। इस समय महाराणा कुँभलगढ़ में थे। उनको पकड़ने के लिए वह वहीं पहुँच गया। उसने केलवाड़े पर विजय प्राप्त कर ली। महाराणा वहां से निकल भागे। शहबाजखाँ भी आगे बढ़ता गया और उसने केलवाड़े से उदयपुर तक के भूभाग पर कब्जा कर लिया। महाराणा ने अब पहाड़ों में रहना प्रारम्भ कर दिया। अनेकों कठिनाइयों का प्रतिदिन सामना किया, लेकिन साम्राज्यवादी अकबर की आधीनता स्वीकार नहीं की। एक कवि ने उस समय का मर्मस्पर्शी वर्णन इस प्रकार किया है—

घर वाकी दिन पांघरा मरद न चूके माण ।
घणा नरिन्दा घेरियो रहे गिरिन्दा राण ॥

अर्थात् पर्वतों की भूमि ऊँची-नीची है। दिन प्रतिकूल है। फिर भी महाराणा मान का परित्याग नहीं करते। वे अपने सारे सामन्तों साथ पहाड़ों में निवास करते हैं।

शाहबाजखाँ ने महाराणा को बन्दी बनाने के लाख प्रयत्न किये और वह पहाड़ पहाड़ घूमता रहा लेकिन प्रताप उसके वश में नहीं आये। उसकी विपुल वाहिन प्रताप के रण पांडित्य के सामने निरर्थक सिद्ध हो गई। अन्त में वह निराश होकर दिल्ली लौट गया। शाहबाजखाँ के लौट जाने पर महाराणा छप्पन की पर्वत श्रेणी में चले गये और चामुण्ड गाँव से लूणा राठौड़ को निकल कर वहीं रहने लग गये।

शाहबाजखाँ की अनुपस्थिति में महाराणा ने अपने गये हुए प्रदेश पर फिर से आक्रमण करके कब्जा करना प्रारम्भ कियाँ। उनका प्रताप वढ़ता जा रहा था। अतः अकबर ने फिर एक बड़ी सेना के साथ महाराणा को वन्दी बनाने के लिए भेजा। महाराणा को वन्दी बनाने के उसने कई प्रयत्न किये लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। महाराणा के ये दिन बड़ी मुसीवत के थे। मुगलों के आक्रमण के कारण एक दिन तो वे पांच बार परोसे हुए भोजन को छोड़कर उठे। छटी बार उन्हें जंगली फलों का आटा नसीब हुआ। घास को कूट कर एक रोटी बनाई गई। वह बच्चों को दी गई। जब झाड़ी से निकल कर एक बिलाव उसे भी बालिका के हाथ से छीन कर ले भागा तो महाराणा के लिये यह पीड़ा असह्य हो गई। वे अधीर हो उठे। उनका संचित धैर्य हिल गया। उन्होंने अकबर के पास आत्म समर्पण का सन्देश भेज दिया।

बीकानेर के महाराजा राजसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज उस समय अकबर के दरबार में थे। वे महाराणा की वीरता, उदारता पवित्रता पर मुग्ध थे और उन्हें देवता स्वरूप मानते थे। जब आत्म-समर्पण का सन्देश उन्होंने दरबार में सुना तो उन्हें उस पर विश्वास नहीं हुआ। अपनी स्वाभाविक सरलता और निर्भीकता के साथ बोले—"नहीं, यह पत्र महाराणा प्रताप का किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। मैं उनको अच्छी तरह जानता हूँ। यदि सूर्य पश्चिम में ऊगने लगे, पृथ्वी रसातल को चली जाय और दिल्लीश्वर का सारा वैभव महाराणा के चरणों में लौटने लग जाय फिर भी वे दिल्ली की आधीनता स्वीकार नहीं कर सकते।" बादशाह अकबर ने कहा—"यदि आपको इतना विश्वास है तो आप स्वयं लिख कर उनसे पूछ लीजिए।"

पृथ्वीराज ने एक पत्र भेजा उसमें निम्न लिखित दोहे लिखे—

पातल जो पातसाह बोले मुख हूँ ता बयण।
मिहिर पछिम दिसि माँह, ऊगे कासम रावउत ॥
पटकूँ मूछा पाण कै पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण इन दो महली बात इक ॥

"महाराणा प्रताप, यदि अपने मुँह से अकबर को बादशाह कह कर पुकारें तो सूर्य पश्चिम में उदय होने लग जावेगा। हे दीवाण, मैं मूछों पर ताव दूं अथवा तलवार का प्रहार अपने ही शरीर पर करूं। इन दोनों बातों में से एक बात लिख दीजिए।"

पत्र वाहक महाराणा के पास पहुँचा। मुसीबतों और चिन्ताओं के जिन बादलों ने प्रताप के प्रताप को छिपा दिया था पृथ्वीराज के इस पत्र ने उन बादलों को छिन्न भिन्न कर दिया। उन्होंने पृथ्वीराज को लिख भेजा—

"तुरक कहासी मुख पतो इन तणसूं इकलिंग
ऊगे जाही ऊगसी प्राची बीच पतंग
खुसी हून्त पीथल कमध पटको मूछा पाण।
पछतण हैं जे ते पतो कलमां सिर के वाण ॥
सांग मूँड सहसी सको सम जस जहर सवाद।
भड़ पीथल जीतो भलां वैण तुरक शूं वाद ॥"

"भगवान एकलिंगजी इस मुख से तो अकबर को तुर्क ही कहलावेंगे। सूर्य जिस पूर्व दिशा में ऊगता है वहीं उगेगा। हे कमध पृथ्वीराज जब तक प्रताप की तलवार यवनों के सिर पर है तब तक प्रसन्नता से अपनी मूछों पर ताव देते रहो। प्रताप सिर पर सांग का प्रहार भी सहन करेगा क्योंकि उसके लिए बराबर वालों का यश विष के बराबर है। इसलिए वीर पृथ्वीराज तुम तुर्क से वाद विवाद में विजय प्राप्त करो।"

यह उत्तर पाकर पृथ्वीराज बहुत खुश हुए और उन्होंने महाराणा को निम्न लिखित गीत लिख भेजा—

" नर जेथ निभाणा निलजी नार
अकब्बर गाहक बट अबट
चोहटे तिन जायर चीतोड़ो
बेचे किण रजपूत बट
रोजायता तणे नव रोजे
जेथ मसाणा जणो जण
हिन्दू नाथ दिलीचे हाटे
पतो न खर्चे खत्री पण........."

"जहां पर मान हीन पुरुष और निर्लज्ज स्त्रियां हैं और जैसा चाहिये वैसा ग्राहक अकबर है। उस बाजार में जाकर चित्तौड़

का स्वामी रजपूती कैसे बेचेगा ? मुसलमानों के नौरोज में प्रत्येक व्यक्ति लुट गया किन्तु हिन्दुओं का पति प्रतापसिंह दिल्ली के उस बाजार में अपने क्षत्रियपन को नहीं बेचता ....।"

स्व. ओझाजी ने घास की रोटी वाले प्रकरण को कपोल कल्पित एवं अतिशयोक्ति पूर्ण बताया है। कुछ भी हो यह बात तो निर्विवाद है कि महाराणा को मुसीबतों का सामना अवश्य करना पड़ा था और इन मुसीबतों का सामना करते हुए वे हिमालय की भाँति अटल रहे थे।

मातृ भूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए महाराणा एक के बाद एक बड़ी बड़ी मुसीबतों का सामना करते रहे। एक जंगल से दूसरे जंगल और एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ में भागते रहे लेकिन इतने से ही उनकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ। एक समय ऐसा भी आगया जब कि उनको अपनी स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि को छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। आंखों में आँसू भरे मातृ भूमि को अन्तिम प्रणाम करके वे चल पड़े। महाराणा आबू से १५ कोस पश्चिम में सूंधा की पहाड़ियों तक पहुँच गये। इसी समय भामाशा आ पहुँचे और उन्होंने महाराणा को रोक कर २५ लाख रुपये और २० हजार अशर्फियां उनके चरणों में अर्पण कर दी। यह धन राशि उन्होंने मालवे पर आक्रमण करके प्राप्त की थी। भामाशा ने कहा–"अन्न दाता, यह आपका ही धन है मेरा नहीं। आपके प्रताप से ही मैंने इसे प्राप्त किया है। यदि यह स्वामी के संकट काल में काम न आये तो फिर किस काम का ?" महाराणा ने इस धन से सेना एकत्र की और दिवेर के शाही थाने पर आक्रमण कर दिया। महाराणा की तलवार से बहलोल खाँ मारा-गया। वहां से वे कुंभलगढ़ की ओर बढ़े। वहां की मुगल सेना भयभीत होकर भाग गई। महाराणा के आतंक को बढ़ता हुआ

देख कर अकबर ने विक्रमी सं. १६३९ (सन १५८२ ई.) में जगन्नाथ कछवाहा को एक बड़ी सेना के साथ भेजा। वह भी दो वर्षों तक पहाड़ों में भटकता रहा। लेकिन उसे सफलता नहीं मिली और वह भी निराश होकर लौट गया। महाराणा ने एक ही वर्ष में चितौड़ और माण्डलगढ़ को छोड़ कर शेष मेवाड़ पर कब्जा कर लिया। इन्हीं दिनों मानसिंह से बदला लेने के उद्देश्य से उन्होंने आमेर राज्य पर आक्रमण किया और वहां के प्रसिद्ध नगर मालपुरे को लूट कर अपने राज्य में मिला लिया।

एक दिन महाराणा किसी पर्वत पर फूस की कुटी में सो रहे थे। पास की ही कुटी में राजकुमार अमरसिंह अपनी पत्नी के साथ सो रहे थे। फूस की छत में से पानी को टपकता हुआ देखकर पत्नी ने पूछा—"कुँवरजी, कभी इन मुसीबतों का भी अंत होगा?" राजकुमार ने उत्तर दिया—"यह मुसीबत जरूर है लेकिन क्या करें? पिताजी के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते" महाराणा सुन रहे थे उनको इस उत्तर से असह्य पीड़ा हुई। जिस वीर ने भोग-विलास, राजवैभव और पद-प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर स्वतन्त्रता देवी की उपासना में तपस्या करते करते सारा जीवन बिताया वह अपने ही पुत्र के मुख से, जिससे उसे भविष्य में बड़ी बड़ी आशाएँ थीं विलास-प्रियता की बातें सुन कर सन्न रह गया। उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। यह कसक उन्हें अन्त तक व्याकुल करती रही।

एक दिन जब वे शिकार खेल रहे थे तब धनुष की प्रत्यंच चढ़ाते समय उनके पेट में बल आगया। उसी दिन से उनकी अवस्था गिरती गई। अन्तिम दिन वे अपने जीवन की सारी घटनाओं के साथ मेवाड़ के वर्तमान भूत और भविष्य का चित्र

खींच रहे थे। भविष्य का विचार आते ही उनके चेहरे पर उदासी छा गई और उन्होंने एक दीर्घ निश्वास ली। आस पास बैठे हुए सामन्त चिन्ता मग्न होकर उनकी ओर ताकते रहे। साहस करके सालुम्बर के रावत ने महाराणा से पूछा—

"पृथ्वीनाथ कौन सी बात आपको इतनी व्याकुल कर रही है कि आपकी आत्मा इस भौतिक शरीर को नहीं छोड़ पाती ?" महाराणा बोले—"रावतजी, मुझे व्याधि उतना कष्ट नहीं दे रही है जितना आधि। मैं जानता हूँ अमरसिंह विलास प्रिय है। यह भोग-विलास में पड़ कर अपने कर्तव्य को भूल जायगा। यदि आप लोग देश और कुल के गौरव की रक्षा करने का वचन दें तो मेरी आत्मा शान्ति के साथ प्रस्थान करेगी।" इतना कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं और सारी वेदना, सारी व्याकुलता, आँखों में साकार होकर बह निकली। सामन्तों ने एक साथ शपथ खाकर प्रतिज्ञा की कि अपना जीवन रहते वे कभी भी मेवाड़ पर मुगलों का अधिकार न होने देंगे और चित्तौड़ को स्वतन्त्र बनाने में कोई प्रयत्न बाकी न रहने देंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि जब तक वे इतना काम न कर लेंगे तब तक कुटिया में ही रहेंगे। महाराणा को सामन्तों की दृढ़ता से बहुत सान्त्वना मिली। अमरसिंह को स्वधर्म और स्वदेश रक्षा के लिए दो शब्द कहकर भगवान एकलिंगजी की जय कहते हुए महाराणा ने परलोक यात्रा की।

महाराणा की मृत्यु से मेवाड़ ही नहीं सारे हिन्दुस्तान में हाहाकार मच गया। उनके आश्रित, मित्र और प्रशंसक ही नहीं बल्कि दुश्मन और आलोचक भी रो पड़े। जब सम्राट अकबर ने यह समाचार सुना तो वह भी अपने को न रोक सका। उसके चेहरे पर भी विषाद की रेखाएँ झलक पड़ीं। उसके मुंह से निकल पड़ा—"प्रताप, सचमुच तू सौभाग्यशाली ही रहा।"

उसके उस समय के मनोभावों को पहिचान कर प्रसिद्ध चारण कवि दुरसाजी ने अकबर की अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है—

अस लेगो अणदाग पाग लेगो अणदागी।
गौ आड़ा गव डाय जिको वह तो धुरवामी॥
नव रोजे नह गयो न गो आतसां नवदात्री।
न गो झरोखा हेठ जेठ दुणियाण दहत्री॥
गह लौत राण जीतो गयो दसण मूंद रसना डसी।
नीसास मूक भरिया नयण तो मृत साह प्रतापसी॥

"हे गुहलोत राणा प्रताप ! तेरी मृत्यु पर बादशाह ने दांतों तले जीभ दबाई और दीर्घ निश्वास लेकर आंसू बहाये। क्योंकि तूने अपने घोड़े को दाग नहीं लगने दिया। अपनी पगड़ी को किसी के आगे नहीं झुकाया। तू न कभी नवरोजे गया और न शाही डेरों में ही गया। तू कभी शाही झरोखों के नीचे भी नहीं गया जहां कि दुनिया दहल जाती है। इससे तू सब प्रकार से जीत गया।" अपने भावों को ठीक-ठीक समझ लेने के कारण बादशाह अकबर ने दुरसाजी को इस कविता पर पुरस्कार दिया था।

चावंड से कुछ दूर बंडोली नामक गांव के पास रामू नाले के तीर पर महाराणा का अन्तिम संस्कार किया गया। इस स्थान पर उनके स्मारक के रूप में श्वेत पाषाण की एक छत्री बनी हुई है।

महाराणा प्रताप के जीवन का अधिकांश भाग स्वतन्त्रता देवी के पवित्र मन्दिर की रक्षा के लिए रणचण्डी की आराधना करते-करते ही बीता। अतः साधारणतः लोग उनके एक ही गुण से परिचित हैं। उनके हृद्गत कोमल भावों तथा उनकी राजोचित एवं सांसारिक कर्तव्यपरायणता का परिचय प्राप्त करने के उपयुक्त

साधनों का अब भी अभाव-सा ही है। हम केवल इतना ही जानते हैं कि वे स्वतन्त्रता के अनन्य भक्त, देश प्रेम से अनुप्राणित अदम्य उत्साही, वीर एवं अपने आदर्शों के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहने वाले त्यागी और तपस्वी थे। यद्यपि केवल यही एक गुण उनकी कीर्ति को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि हम उनके हृदय की गहराई की छान बीन करें तो हमें वहां अनेकों रत्न मिलेंगे। जब हम यह विचार करते हैं कि हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई की अपेक्षा उनके हृदय में प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण कितना संघर्ष हुआ होगा तो हमको उनकी वास्तविक महत्ता का पता लगता है। तभी महाराणा का आदर्श चित्र हमारी कल्पना में घूमने लगता है। उनका जीवन उत्साह का ज्वलन्त उदाहरण है। राज्याभिषेक से लेकर मृत्यु पर्यन्त वे विषमताओं का मुकाबला करते रहे और क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं हुए। उनका हृदय विशाल था। वे निश्छल एवं स्पष्ट नीति के पक्षपाती थे। वे चाहते तो शिकार के लिए निकले हुए मानसिंह पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना सकते थे। लेकिन उनकी सच्ची वीरता नीतिमत्ता और स्वधर्मपरायणता ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया। इसी प्रकार बैरमखाँ के पुत्र की स्त्रियों को सम्मानपूर्वक लौटा देना भी उनकी उदारता और महानता का ही परिचायक है।

महाराणा का अकबर के विरुद्ध युद्ध साम्प्रदायिक नहीं था। हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर का आश्रित इतिहासकार अलबदायुनी भी उपस्थित था। उसने लिखा है—

"महाराणा की सेना के एक भाग के संचालक हकीमखाँ सूर अफगान थे। हिन्दू राजाओं के अतिरिक्त कुछ मुसलमान सैनिक सरदार भी महाराणा के साथ थे"। अतः यह स्पष्ट है कि

वे साम्राज्यवाद के विरोधी थे मुसलमान धर्म के नहीं। उनका प्रतिद्वन्दी 'मुसलमान' अकबर नहीं था अपितु 'सम्राट' अकबर था। यदि अकबर की कूटनीति से अनेकों पद-लोलुप हिन्दू उसकी ओर थे तो महाराणा के उच्चादर्श से प्रभावित होकर अनेकों मुसलमान सरदार व सैनिक महाराणा की ओर थे। वास्तव में महाराणा का दृष्टिकोण जाति पांति की सीमा से परे था। वे प्रत्येक जाति के सत् पुरुष का आदर सम्मान करते थे।

महाराणा के चरित्र का ज्ञान प्राप्त करने का मुख्य साधन तात्कालिक भाट चारण कवियों की रचनाएँ हैं। इन लोगों ने महाराणा का यशोगान इस प्रकार किया है:—

अकबर गरब न आण हिन्दू सह चाकर हुआ।
दीठो कोई दिवाण करता लटका कट हड़े॥

"हे अकबर सब हिन्दू राजाओं के चाकर हो जाने से तू गर्व मत कर। क्या किसी ने महाराणा प्रताप को झुक कर प्रणाम करते देखा है?"

सुख हित स्याल समाज हिन्दू अकबर वस हुआ।
रोसीलो मृगराज पजे न राण प्रतापसी!

"अपने सुख के लिए गीदड़ों के समूह की तरह हिन्दू लोग अकबर के आधीन हो गये। लेकिन रुष्ट सिंह के समान प्रतापसिंह उनसे दब न सका।"

लोपे हिन्दू लाज सग पण रोपे तुरकशू।
आरज कुलरी आज पूंजी राण प्रतापसी॥

हिन्दू अपनी कुल-लज्जा छोड़कर यवनों से सम्बन्ध जोड़ते हैं। अब तो आर्यकुल की सम्पति महाराणा प्रतापसिंह ही हैं।

अकबर पथर अनेक कै भूपन भेला किया
हाथ न लागों हेक पारस राण प्रतापसी

"अकबर ने अनेक पत्थर रूप भूपतियों को इकट्ठा किया लेकिन पारस पत्थर की भांति राणा प्रतापसिंह उसके हाथ नहीं लगा।"

अकबर घोर अन्धार ऊधाणा हिन्दू अवर।
जागे जग दातार पोहरे राण प्रतापसी॥

"अकबर रुपी अन्धेरी रात्रि में अन्य सब हिन्दू निद्रित हो गये लेकिन जगत का दाता प्रतापसिंह जागता हुआ पहरे पर खड़ा है।"

माई एहा पूत जण जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो औध के जाण सिराणे सांप॥

"हे माता, ऐसे पुत्र उत्पन्न कर जैसे राणा प्रतापसिंह है। जिसको सिरहाने के पास का सांप समझकर अकबर सोते सोते भी चौंक उठता है।"

वास्तव में महाराणा प्रताप ने अपनी वीरता, देश प्रेम और त्याग के द्वारा हमारे देश के अन्धकार पूर्ण युग को अपनी प्रभा से चकाचौंध कर दिया है। जबतक स्वतन्त्रता का एक भी पुजारी जीवित रहेगा महाराणा का यश अक्षुण्य रहेगा और उनकी महानता भारतवर्ष के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जायगी। जब जब परतन्त्रता के बादलों से किसी भी देश का भाग्याकाश आच्छादित होने लगेगा तब उस देश का प्रत्येक आबाल-वृद्ध श्री सोहनलाल द्विवेदी के शब्दोंमें पुकार उठेगाः—

मेरे प्रताप तुम फूट पड़ो मेरे आँसू की धारों से।
मेरे प्रताप तुम गूँज उठो मेरी संतप्त पुकारों से॥
मेरे प्रताप तुम बिखर पड़ो मेरी उत्पीड़ित मारों से।
मेरे प्रताप तुम निखर पड़ो मेरे बलि के उपहारों से॥

दुर्गादास

"धनि दुर्गा राठौड़ ! तू दल्यो मुगल दल दाप।
लखियत मरुथल पे अजौं तुव निज प्यारी छाप।"

—*वियोगी हरि*

राजस्थान के पश्चिम में जोधपुर राज्य स्थित है । इसी को मारवाड़ भी कहा जाता है। मारवाड़ रेगिस्तान है । यहां चारों ओर चमकते हुए रेणु-कण ही दिखाई देते हैं । हरियाली तो मारवाड़ के लिए स्वप्न-सी है, वनस्पति का कहीं कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। हां, बँबूल, जाँटी व नींम के पेड़ अलबत्त यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं। रेगिस्तान की विशेषताएँ यहां मौजूद हैं । पानी का सदैव अकाल रहता है। अतः यह प्रान्त हमेशा दुर्भिक्ष का ग्रास बना रहता है। जौ और बाजरा यहां का मुख्य भोजन है और वह भी पूरी तरह नसीब नहीं होता। इस प्रकार यह एक निर्धन देश है । लेकिन यहां के लोगों ने जिस व्यापार-कुशलता का परिचय दिया है वह किसी से छिपा नहीं है। मारवाड़ी सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं और अधिकांश व्यापार आज उन्हीं के हाथ में है। इसी प्रकार यह वीरता में भी कम नहीं हैं। जो राठौर वीर भारतवर्ष के इतिहास में प्रसिद्ध रहे हैं उनकी मातृभूमि भी यही मारवाड़ है।

बात उस समय की है जब कि मुगल वंश का अन्तिम सम्राट औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान था। औरंगजेब ने अपने धार्मिक कट्टरपन, शक्की मिजाज और असहिष्णुता से चारों

ओर अपने दुश्मन पैदा करना आरम्भ कर दिया था। हिन्दू स्वभावतः ही सहनशील होते हैं, लेकिन उसकी भी एक सीमा है। जब उनके धर्म पर आघात होता है तो वे उसे सहन नहीं करते। औरंगजेब ने मन्दिरों को तोड़ना और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाना प्रारम्भ किया। कितने ही मन जनेऊ उतारकर जलवा दी और अनेकों व्यक्तियों को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया। उसके इस अन्याय की प्रतिक्रिया महाराष्ट्र और पंजाब में विशेष रूप से हुई। एक ओर मराठे संगठित हुए; दूसरी ओर सिक्ख। बुन्देलखंड में महाराजा छत्रसाल ने भी मुगलों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और राजस्थान तो पहले से ही मुसलमानों का दुश्मन था। जब हिन्दुओं का धर्म खतरे में पड़ रहा था तब उसकी रक्षा के लिए महाराष्ट्र में शिवाजी, पंजाब में गुरू तेगबहादुर, बुन्देलखंड में छत्रसाल और राजस्थान में दुर्गादास उसकी रक्षा के लिए खड़े हुए। इन वीरों ने सुदृढ़ मुगल सामाज्य की नींव खोखली कर दी और देखते ही देखते मुगल साम्राज्यवाद का महल गिर कर चकनाचूर हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक में हमें केवल राजस्थान के ही महापुरुषों के जीवन-चरित्र चित्रित करना है। अतः आइये, राठौर वीर दुर्गादास के जीवन पर एक दृष्टि डालें। वे कोई राजा महाराजा या बादशाह नहीं थे। वे तो मारवाड़ के एक साधारण जागीरदार थे। वे अपनी वीरता, त्याग और कुशलता के बल पर इतिहास में प्रसिद्ध हो गये हैं।

उन दिनों महाराज यशवन्तसिंह मारवाड़ के शासक थे। वीर दुर्गादास अपने इन्हीं महाराजा के सेनापति थे। इन्हीं महाराजा की सेवा में रहकर उन्होंने ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उन दिनों महाराज यशवन्तसिंह की वीरता की धाक चारों ओर फैल गई थी। औरंगजेब भी उनकी वीरता से परिचित

था। राज-सिंहासन पर आसीन होते ही उसने महाराज यशवन्त-सिंह को बुलवाया। वह चाहता था कि वे शुजा के विरुद्ध उसकी मदद करें। राठौर नरेश ने इसे उपयुक्त अवसर समझा और उन्होंने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। वीर दुर्गादास के सेनापतित्व में सेना चल पड़ी। इलाहाबाद के पास कुजवा नामक स्थान पर जब वे पहुँचे और वहां शुजा और औरंगजेब की सेना में मुठभेड़ हुई तो महाराज यशवन्तसिंह औरंगजेब के पिछले भाग पर टूट पड़े। उन्होंने सेना का बहुत-सा हिस्सा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बहुत-सी बहुमूल्य चीजें लेकर मारवाड़ की ओर चल पड़े। इस आक्रमण से उनका यह मतलब था कि वे औरंगजेब की सेना को हानि पहुँचा कर दारा को राजसिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न करें। लेकिन ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। दारा ठीक समय पर न आ सका। समय निकल गया और बादशाह बनने की बात तो दूर गयी बेचारे को जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

औरंगजेब बड़ा कूट-नीतिज्ञ था। महाराज यशवन्तसिंह की शक्ति से तो वह परिचित हो ही गया था। अतः वह नहीं चाहता था कि वे उसके खिलाफ हों। उसने उन्हें मान-सम्मान आदि के प्रलोभन देकर ही अपने वश में रखना उचित समझा और उन्हें गुजरात का सूबेदार बना दिया। औरंगजेब जानता था कि वे उसके लिए भयंकर शत्रु सिद्ध हो सकते हैं। अतः उनकी शक्ति को किसी भी प्रकार बढ़ने न दिया जाय। यदि वे एक स्थान पर रहते तो उनकी शक्ति अवश्य बढ़ती, लेकिन उनकी शक्ति से भयभीत होकर वह उनको एक स्थान पर नहीं रहने देता था। इसबीच उसने उन्हें मरवा डालने के भी प्रयत्न किये, लेकिन उन्हें तो दुर्गादास जैसे वीर सेवक प्राप्त थे। औरंगजेब के इन सारे प्रयत्नों से महाराजा का कुछ भी नहीं बिगड़ा।

जब औरंगजेब उनको मरवाने में सफल न हो सका तो उसने एक दूसरा उपाय ढूंढ निकाला। उसने उन्हें काबुल पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। महाराज ने मारवाड़ का शासन भार अपने वीर पुत्र पृथ्वीसिंह को सौंपा और वीर दुर्गादास तथा राठौड़ वीरों को लेकर काबुल की ओर चल पड़े। इस बार उन्हें अफगानों का मुकाबला करना था। इधर वे काबुल के लिए रवाना हुए उधर औरंगजेब ने राजकुमार पृथ्वीसिंह के पास संदेशा भेजा कि वे राजदरबार में उपस्थित हों। राजकुमार दरबार में उपस्थित हुए। औरंगजेब ने उनके साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया। उन्हें दरबार में खिलअत पहनाई गई। सम्मान को सूचक होने के कारण उन्होंने उससे इन्कार नहीं किया। बस औरंगजेब का षडयन्त्र सफल हो गया। खिलअत विषैली थी, जैसे ही राजकुमार दरबार से लौटे वैसे ही जहर ने अपना प्रभाव दिखाया। राजकुमार छटपटाने लगे और देखते ही देखते राठौर वंश का तारा अस्त हो गया। पृथ्वीसिंह वीर पिता का वीर पुत्र था। उसमें अपने पिता के सारे गुण मौजूद थे। यदि वह जीवित रहता तो अवश्य ही अपने वंश की कीर्ति पताका फहराता और अपने पिता की आशाओं को पूरा करता। लेकिन औरंगजेब इसे कहाँ चाहता था!

महाराज यशवन्तसिंह के पास पुत्र के असामायिक निधन का समाचार पहुँचा। महाराज पुत्र शोक से दहल गये। उनकी सारी आशाएं मिट्टी में मिल गईं। उन्हें अपने चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा। वे किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गये। जो वीर कभी लड़ाइयों में विचलित नहीं हुआ, वही पुत्र शोक के निष्ठुर प्रहार से जर्जर हो गया। उन्हें अपना जीवन भार-स्वरूप प्रतीत होने लगा। पुत्र शोक के कारण अटक के उसपार ही उनकी मृत्यु हो गई।

राजकुमार और महाराज की मृत्यु से दुर्गादास तथा अन्य राठौर सरदार दुखी हुए। उनके ऊपर गहरी उदासी छा गई।

महारानी ने सती होने की इच्छा प्रकट की, लेकिन वे गर्भवती थीं। सरदारों के आग्रह से उन्होंने अपना विचार बदला। इससे निराशा के समुद्र में डूबते हुए सरदारों को तिनके का सहारा मिला। वे सोचने लगे यदि महारानी ने पुत्र प्रसव किया तो राठौर वंश का नाम मिटने न पाएगा। सब लोग चल पड़े। जब लाहौर पहुंचे तो महारानी यहां ठहर गईं। यहीं उन्होंने राजकुमार को जन्म दिया। उसका नाम अजीतसिंह रखा गया। घोर अन्धकार में प्रकाश की इस क्षीण रेखा को देखकर सरदारों के दिल प्रफुल्लित हो गये। उनमें फिर से आशा और जीवन का संचार हो गया।

रानी प्रवास करने के योग्य नहीं थी। अतः कुछ दिनों तक सबको लाहौर ही ठहरना पड़ा। जब वे इस योग्य हो गईं तो राठौर सामन्त महारानी और उनके नव-जात शिशु के साथ देहली के लिए रवाना हुए। इन मुसीबत के दिनों में उन्हें औरंगजेब से कुछ अच्छे व्यवहार की आशा थी। लेकिन रंग-ढंग कुछ उल्टे ही दिखाई दिये। वह तो राठौर वंश को समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था। जब उससे दिल्ली छोड़ने की इजाजत मांगी गई तो उसने इन्कार कर दिया। वह राजकुमार अजीतसिंह को भी मरवा डालना चाहता था। सरदारों को उसके विचारों की झलक मिली और वे सशंकित हो उठे। उन्होंने आपसमें इस विषय पर चर्चा की और यह तय किया कि औरंगजेब के पास जाकर इजाजत मांगी जाय। इस पर औरंगजेब जो कुछ उत्तर देगा उससे सारी बातें स्पष्ट हो जाएगी।

इस निर्णय के अनुसार वीर दुर्गादास अपने भाई के साथ औरंगजेब के पास पहुंचे। राजभवन में पहुँचकर खबर करवाई गई। औरंगजेब दीवान-खास में था। उसने दुर्गादास तथा उनके साथी राठौर सामन्तों को बुला भेजा। दुर्गादास ने निवेदन

किया—"जहाँपनाह, महारानी स्वदेश लौट जाना चाहती है, आपकी आज्ञा हो तो उनको मारवाड़ पहुंचा दें।" औरंगजेब बोला—"दुर्गादास, मैं राजकुमार अजितसिंह को चाहता हूं। तुम उसे मेरे सिपुर्द करदो। मारवाड़ का शासक तो अब कोई है नहीं। मैं वहां का राज्य आप लोगों को दे दूंगा।" राठौड़ वीर इन शब्दों को सुनकर स्तंभित रह गये। उनके मुँह से कोई उत्तर नहीं निकला, लेकिन उनकी त्यौरियाँ कह रही थीं—'हमारे जीते जी ऐसा नहीं हो सकेगा। हम उन नमकहराम सेवकों में से नहीं हैं जो अपने छोटे से स्वार्थ के लिए स्वामी का गला कटवाते हुए नहीं हिचकते। हम अपना सर्वस्व देकर भी राजकुमार की रक्षा करेंगे।' जैसे ही वे दीवान-खास से निकले उनके नेत्रों से अग्निशिखाएं फूट निकलीं और चेहरा तमतमा उठा। जब वे डेरे पर पहुंचे तो फिर एक बार सब बैठे और उन्होंने सारी परिस्थिति पर विचार किया। यह तय हुआ कि किसी प्रकार राजकुमार को जल्दी ही देहली के बाहर भेज दिया जाय। मुकुन्ददास खीची ने यह कार्य अपने ऊपर लिया। उसने कहा, मैं संपेरे का वेश धारण करके राजकुमार के साथ बड़ी सरलता से बाहर निकल जाऊँगा। सब लोग सहमत हो गये। रानी ने राजकुमार को सौंप दिया और कहा—"मुकुन्ददास, मैं अपनी अमूल्य निधि, मारवाड़ की भावी आशा और राठौर वंश के दीपक को तुम्हारे सिपुर्द कर रही हूं। मुझे भरोसा है तुम प्राण देकर भी इसकी रक्षा करोगे।" मुकुन्ददास खीची ने कहा—"महारानीजी, आप निश्चिन्त रहिए। आपकी निधि मेरे पास सुरक्षित रहेगी। अपने जीते जी मारवाड़ के स्वामी का बाल भी बांका न होने दूंगा।"

मुकुन्ददास ने संपेरे का वेष बनाया और राजकुमार को साँप की जगह बैठाकर वह देहली से रवाना हो गया। जब राजकुमार सुरक्षित चला गया तो राठौड़ों की बहुत

बड़ी चिन्ता मिटी। अब उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित किया। दुर्गादास ने अपने साथियों को इकट्ठा किया और उनसे कहा "आप सब को औरंगजेब के इरादे तो मालूम हो ही गये हैं अतः अब यह निश्चित करना है कि हमारा क्या कर्तव्य है। आपके सामने एक ओर औरंगजेब के प्रलोभन है। दूसरी ओर मारवाड़ के शान की रक्षा। यदि आप प्रलोभनों में उलझते हैं तो आपको उसके लिए अपने गौरव और मारवाड़ के कुल दीपक की कीमत देनी पड़ेगी। मैं समझता हूँ, ऐसा कुल कलंक और नमकहराम हमारे अन्दर कोई नहीं है। इस तरह का विचार ही हमारे योग्य नहीं है। आइये, हम परीक्षा के लिए तैयार हो जाय। जन्म-भूमि और स्वामी की रक्षा के लिए मैं अपना सर्वस्व चढ़ा देने के लिए तैयार हो गया हूँ। जब तक यवनों को उनकी धृष्टता का जबाब न दूंगा मुझे शान्ति नहीं होगी। आशा है, इस पवित्र कार्य में आप सब लोग जी जान से मेरा साथ देंगे।" सेनापति दुर्गादास के शब्द समाप्त होते ही सूजा चारण खड़े हुए। उन्होंने भी राठौड़ वीरों को उत्साहित किया और कहा—"आज का दिन सच-मुच परीक्षा का दिन है। आपको आज स्वामी के नमक को अदा करना है। आइये, हम सब इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कटिबद्ध हो जायँ और राजवंश के लिए बड़ी से बड़ी मुसीबत उठाकर भी विचलित न हों।

महाराजा की जय-जय कार करके सारे सामन्तों और सैनिकों ने अपने उत्साह का प्रदर्शन किया, उनकी भुजाएँ फड़क उठीं, और महामरण त्यौहार के लिए वे सब तैयार हो गये। उनके साथ स्त्रियाँ भी थीं। दुर्गादास ने उनको भी बुलाया और उनसे कहा—"माताओं और बहिनों, हमने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया है। अब समय आ गया है जबकि आपको भी अपनी परीक्षा देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। आपकी रक्षा का

भार हमारे ऊपर है लेकिन बहुत संभव है कि इस कठिन स्थिति में हम आपकी रक्षा न कर सकें। यदि ऐसा हुआ तो राठौड़-वंश के गौरव की रक्षा का भार आपके ऊपर भी आएगा। मुझे भरोसा है आप राठोड़ों के पवित्र वंश पर कलंक न लगने देंगी।" स्त्रियों ने कहा—"सेनापति जी, आप हमारी ओर से निश्चिन्त रहिये। हम अपने वंश की रक्षा करना अच्छी तरह जानती हैं।" सब वीरांगनाओं ने अपने-अपने पतियों के अन्तिम दर्शन किये और वे अपने निश्चित स्थान पर चली गईं। कुछ देर बाद एक जोर का धड़ाका हुआ और देखते ही देखते सारी राजपूत वीरांगनाएँ जल कर भस्म हो गईं। राजपूत स्त्रियों! तुमको धन्य है। तुमने अपने प्राण देकर भी अपने गौरव की रक्षा की है। तुम्हारे सुकृत्यों से आज भी हमारा मस्तक ऊँचा है।

स्त्रियों के इस कार्य ने पुरुषों में उत्साह की लहर फैला दी। जिस जाति की स्त्रियाँ इस प्रकार मृत्यु को एक खेल समझती हैं उस जाति के पुरुष क्यों पीछे रहते? उन्होंने भी केशरिया बाना पहिन लिया और वे मरने मिटने के लिए तैयार हो गये। वे अपने अपने हथियारों से लेस होकर घोड़ों पर बैठे।

उधर दुर्गादास तथा उनके साथियों के रंग ढंग से औरंगजेब सतर्क हो चुका था। उसने सेना को तैयार किया और राठौड़ों पर आक्रमण करने के लिए भेजा। जब मुगल सेना पास आई तो अपने सेनापति के इशारे पर राठौड़ वीर यमराज की तरह उसपर टूट पड़े। उनकी तलवारें बिजली की तरह चमक उठीं। जिस पर गिरतीं गाजर मूली की तरह कटकर धराशायी हो जाता। देखते ही देखते मुगल सेना के बहुत से वीर धराशायी हो गये। मुगल सेना में हल चल मचगई। राजपूत भयंकर युद्ध कर रहे थे और मुगल सेना को चीरते हुए तूफान की तरह आगे बढ़ रहे थे

देखते ही देखते उन्होंने कई मुगल सैनिकों को यम के घाट उतार दिया और सेना को चीर कर पार हो गये। मुट्ठीभर राजपूत अपार मुगल सेना के दांत खट्टे कर के निकल आये और दिल्ली से रवाना हो गये। इस लड़ाई में मुगलों की तो क्षति हुई ही। राठौड़ों के भी कुछ अच्छे वीर काम आये। अपने स्वामी का ऋण चुकाकर उन वीरों की आतमाएं स्वर्ग में भी खुशी से फूली न समाई होंगी।

औरंगजेब ने जब यह समाचार सुना कि मुट्ठीभर राजपूत मुगल सेना को चीर कर निकल गये तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह क्रोध से उन्मत्त हो गया। उसने एक बड़ी सेना तैयार की और उसे लेकर खुद ही अजमेर की ओर बढ़ गया। वह सदैव के लिए राठौड़ों का अस्तित्व मिटा देने पर तुल गया था। जब शाही सेना मारवाड़ पहुँची तो उसने अपने काले कारनामों से प्रजा को त्रस्त कर दिया। जनता लूटी गई, मन्दिर तोड़े गये और हर एक गांव में आग लगाई गई। लोगों पर मनमाने अत्याचार किये गये। हिन्दुओं पर जजिया लगाया गया और चारों तरफ नादिरशाही का नंगा नाच शुरू कर दिया गया।

राठौड़ों के लिए बड़ी मुसीबत का समय था। मारवाड़ पर औरंगजेब का अधिकार हो गया था और उनकी जान माल सब कुछ खतरे में पड़ गये थे। इस कठिन स्थिति में सबकी आँखें दुर्गादास पर लग गई। दुर्गादास ने नेतृत्व की बागडोर अपने हाथ में संभाली और सबसे पहिले राजकुमार अजीतसिंह को अरावली की गुफाओं में छिपा दिया। कुछ राजपूतों को उसकी रक्षा के लिए वहाँ छोड़कर वे मेवाड़ की ओर रवाना हुए।

स्वदेश की रक्षा के लिये वे महाराणा राजसिंह से सहायता प्राप्त करना चाहते थे। मेवाड़ पहुंचकर वे महाराणा की सेवा में उपस्थित हुए। राज दरबार में महाराणा ने उनसे मारवाड़ की

स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न किया। दुर्गादास बोले—"महाराणाजी मारवाड़ की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। चारों ओर मुसीबत के बादल मंडरा रहे हैं और लोग हाहाकार कर रहे हैं। मुगल सेनाएँ सारे मारवाड़ को अपने पैरों तले रौंद रही है। मन्दिर नष्ट किये जा रहे हैं, गांव जलाये जा रहे हैं और जनता लूटी जा रही है। लोगों का अस्तित्व भी बड़े खतरे में है। राजकुमार अजीतसिंहजी को तो किसी प्रकार अरावली की गुफा में छिपा दिया है लेकिन मुझे यह सब असह्य हो रहा है। चाहता हूँ कि राठौड़ों का संगठन करूँ और शत्रु का मुकाबला करते हुए प्राणों की बाजी लगा दूं। लेकिन राठोंड़ों में आज उत्साह नहीं है। वे अस्त व्यस्त और घबराये हुए हैं। मैं अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ जूझ सकता हूँ लेकिन व्यर्थ में जान दे देना भी तो ठीक नहीं है। मेरी रग रग में मारवाड़ का नमक समाया हुआ है। उसकी यह दीन अवस्था मेरे लिए असह्य है। मैं आपकी सेवा में इसलिए आया हूं कि आप स्वतन्त्रता का मूल्य समझते हैं। मुझे आशा है आप इस पवित्र कार्य में मेरी मदद करेंगे।" इतना कह कर वे चुप हो गये। महाराणा दुर्गादास के सम्बन्ध में काफी सुन चुके थे। प्रत्यक्ष रूप से भी अब उनकी बातें सुनली। वे दुर्गादास के हृदय की व्यथा को समझ गये। बोले—"राठौड़ वीर, तुम्हारा देश-प्रेम प्रशंसनीय है। तुम्हारे जैसे देश भक्तों के रहते हुए जन्म भूमि पराधीन नहीं रह सकती। मैं तुम्हारी सब तरह से सहायता करूँगा। जिस दिन तुम्हारी मातृ-भूमि स्वतन्त्र हो जायगी उस दिन मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

महाराणा का आश्वासन पाकर दुर्गादास प्रसन्न हुए। उनकी बहुत बड़ी चिन्ता मिटी। उन्होंने सबसे पहिला काम यह किया कि राजकुमार को मेवाड़ ले आये। अब राजकुमार सुरक्षित स्थान में आये थे अतः निश्चिंत होकर मातृभूमि का उद्धार करने

में लग गये। इधर जब यह समाचार औरंगजेब को मिला कि राजकुमार मेवाड़ पहुंच गये हैं तो उसने महाराजा को पत्र लिखा कि वे राजकुमार को उन्हें सौंप दे। उसने लिखा कि यदि उन्होंने राजकुमार को नहीं सौंपा तो फिर उन्हें भी औरंगजेब से मुकाबला करना पड़ेगा जो उनके लिए बड़ा मेंहगा रहेगा। महाराजा बड़े वीर थे। वे औरंगजेब की धमकी में न आये। उन्होंने उत्तर दे दिया कि वे अजीतसिंह को देने के लिए तैयार नहीं है। अब तो औरंगजेब की विशाल सेना मेवाड़ की ओर प्रस्थान करने के लिए तैयार हो गई। वह जानता था कि इस बार उसे राठौड़ और सीसोदिया राजपूतों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला करना पड़ेगा। अतः उसने अपने सारे अच्छे अच्छे सेनापतियों को बुला लिया। दिलेरखां तहब्बरखाँ तथा हसनअलीखां उसके विश्वस्त सेनापति थे। ये तीनों आ गये। उसने अपने तीनों शाहजादों को बुलाया। शाहजादा मुअज्जम, शाहजादा अकबर और शाहजादा आजम भी आ गये। पूरी तैयारी के बाद वे मेवाड़ के लिए रवाना हो गये। इस बार वे मेवाड़ को विध्वंस कर देना चाहते थे।

इधर दुर्गादास और महाराणा भी अपनी तैयारी में लगे हुए थे। वीर दुर्गादास ने अपने राठौड़ सामन्तों को एकत्र किया और उनको साथ लेकर आ गये। महाराणा ने अपने सामन्तों को बुला लिया और सेनाओं का नेतृत्व राजकुमार भीमसिंह के सिपुर्द कर दिया था। जब पूरी तरह तैयारियां हो चुकी और लड़ाई का समय पास आ गया तो राजकुमार भीमसिंह और दुर्गादास ने अपने सैनिकों को एकत्र किया। वीर दुर्गादास ने सैनिकों से कहा—मेवाड़ी वीरों और राठौड़ भाइयों, "आप जानते हैं कि यवन सेना हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए आ गई है। औरंगजेब नहीं चाहता कि हम स्वतन्त्र और शक्तिशाली आदमियों की तरह रहें। वह हमें गुलाम बनाकर

स्वधर्म, स्वाभिमान और स्वसंस्कृति से च्युत करना चाहता है। जो मेवाड़ सैकड़ों वर्षों से स्वतन्त्र रहा है और जिसने अपनी स्वतन्त्रता के लिए अनेकों बार बलिदान दिया है उसे आज फिर चुनौती दी जा रही है। क्या आप जीते जी उसे परतन्त्र और पददलित होते हुए देखेंगे? आइये, हम सब अपने शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ और प्राण देकर भी स्वतन्त्रता की रक्षा करें। मेरे राठौड़ भाइयों, आप तो औरंगजेब के जुल्मों से परिचित हैं ही। अब औरंगजेब ने आपके लिए मारवाड़ में छोड़ा ही क्या है जिसका आप मोह करें। अपने दुश्मन से मुकाबला करने और स्वामिभक्ति तथा देशभक्ति का परिचय देने के लिए इससे ज्यादा अच्छा अवसर कब आयेगा? आइये हम वज्र की तरह अपने दुश्मनों पर टूट पड़ें और देखते ही देखते उसे छिन्न-भिन्न कर दें।" राठौड़ वीर दुर्गादास के इन शब्दों से सेना में उत्साह और जोश की लहर फैल गई।

जब देवारी के घाट के पास शाही सेना आई तो लड़ाई शुरू हुई। भयंकर युद्ध हुआ। मुगलों की अपारसेना के सामने मुट्ठीभर राजपूत कब तक टिकते? आखिर देवारी के घाट पर शाही सेना का अधिकार हो गया। मुगल सेना में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई वह खुशी में फूली हुई उदयपुर पहुंची लेकिन उन्हें वहां कोई नहीं मिला। महाराणा उदयपुर को विरान बनाकर पर्वतों में आ गये थे। मेवाड़ी और राठौड़ सेनाएं भी पर्वतों में आगईं और महाराणा प्रताप की भांति पर्वतों में रह कर युद्ध करने की तैयारियां करने लगीं। मुगल सेनाओं को पहाड़ी युद्ध का अनुभव नहीं था। अतः पहिले तो उसने पहाड़ों में जाकर युद्ध करने का साहस ही नहीं किया और जब वे उधर बढ़ीं तो उन्हें कई बार मुंह की खानी पड़ी। वीर दुर्गादास और राजकुमार भीमसिंह की युद्ध कुशलता के सामने मुगल सेना की बड़ी बुरी हालत हो रही थी। चितौड़,

बदनोर और देसूरी के युद्ध में मेवाड़ियों ने जबरदस्त रण-कौशल का परिचय दिया। इन तीनों युद्धों की पराजय से औरंगजेब की हिम्मत टूटने लगी और वह सन्धि करने का प्रयत्न करने लगा। इन्हीं दिनों महाराजा राजसिंह की मृत्यु हो गई।

इधर वीर दुर्गादास मारवाड़ आगये और शाही थानों पर आक्रमण करके मारवाड़ विजय के कार्य में जुट गये। देवरी घाटे की विजय का सारा उत्साह फीका पड़ गया। औरंगजेब किं-कर्तव्य विमूढ़ हो गया।

दुर्गादास वीर तो थे ही राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने देखा कि मुगल साम्राज्य शक्ति-हीन हो गया है यदि उस पर सिक्खों, मराठों और राजपूतों का सम्मिलित आक्रमण हो तो वह उस आघात को सहन नहीं कर सकेगा और पहिली ही चोट में चकना-चूर हो जायगा। उन्होंने सिक्खों और मराठों के सामने प्रस्ताव रखा। लेकिन दुःख है कि मराठों की ओर से उनको कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। यदि मराठे और सिक्ख दूरदर्शिता से काम लेते तो भारतवर्ष के नक्शे का रंग बदल गया होता और बहुत संभव था कि भारतवर्ष अंग्रेजों की दासता में न पड़ता।

मराठों की उदासीनता से दुर्गादास निरुत्साह नहीं हुए। उन्होंने एक दूसरी युक्ति ढूँढ निकाली। शाही सेना से इस प्रकार और लड़ते रहना निरर्थक था। उन्होंने बड़ी कुशलता से शाहजादा अकबर को अपनी ओर मिला लिया और उसे आश्वासन दिया कि वे उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठा देंगे। शाहजादे ने अपने को सम्राट घोषित कर दिया और तहव्वारखाँ को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। जब यह समाचार औरंगजेब को मिला तो उसके छक्के छूट गये उसने जल्दी ही सेना का संगठन किया और शाहजादों को शाही सेना की मदद के लिए अजमेर बुला लिया। अकबर

बड़ा विलासी था। शाही सेना आ गई थी और वह नाच रंग और मदिरा में मस्त था। यदि वह बिनाविलंब किये आक्रमण कर देता तो विजय निश्चित थी लेकिन उसकी ढील-ढाल ने स्थिति बदल दी। औरंगजेब ने लड़ाई की तैयारी कर ली और चालाकी से तहव्वारखाँ को अपने शिविर में बुलाकर मरवा डाला। उसने एक और चालाकी की। राजपूतों को भड़काने के लिए अकबर को एक पत्र लिखा उसका आशय था कि "शाबास बेटा, तुमने राजपूतों को खूब धोखा दिया। मैं तुम्हारी कुशलता से बहुत खुश हूँ।" उसने यह व्यवस्था की कि पत्र राजपूतों के पास पहुंच जाय। पत्र दुर्गादास के पास पहुंचा। वे औरंगजेब की चालाकी में आगये और रातों रात अपनी सेना के साथ अकबर को यह समाचार मिला तो उसे बड़ा दुख हुआ। बेचारा राजपूतों के पीछे भागा हुआ आया। वह जानता था कि औरंगजेब ने उसे जहां मिले वहीं कैद कर लेने की आज्ञा निकाल दी थी। राजपूतों को औरंगजेब की चालाकी मालूम हो गई और उन्होंने उसे शरण दी। उनको निश्चय हो गया कि अकबर जैसा विलासी व्यक्ति औरंगजेब का मुकाबला नहीं कर सकता। अतः वे उसे संभाजी के पास दक्षिण में छोड़ आये।

दुर्गादास ने अपने जीवन में कई परिवर्तन देखे थे और अनेकों मुसीबतों का सामना किया था। लेकिन उन्हें निराशा तो मानों छू तक नहीं गई थी। सन् १७०७ में जब औरंगजेब चल बसा तो उन्होंने इस स्थिति से लाभ उठाया और जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। जोधपुर में जफर कुलीखाँ था। भयंकर युद्ध हुआ। इस बार राजकुमार अजीतसिंह भी उनके साथ थे। वीर दुर्गादास ने अपने रण कौशल से मुगल सेना को बेचैन कर दिया। थोड़ी ही देर में वह भाग खड़ी हुई। दुर्गादास ने अपनी जन्मभूमि को स्वतन्त्र कर लिया और फिर से मारवाड़ पर राठौरों का झण्डा

फहरा दिया। वीरवर दुर्गादास तुम धन्य हो। तुमने अपनी सतत साधना से स्वामिभक्ति का वह आदर्श उपस्थित किया जिसका सानी इतिहास में मुश्किल से मिलेगा।

इस विजय के बाद भी अजीतसिंह को कई बार मुगलों का सामना करना पड़ा लेकिन दुर्गादास की सहायता से उन्होंने बार बार उन्हें मार भगाया। दुर्गादास ने अपने प्रयत्नों से मारवाड़ को निष्कलंक बनाकर शान्ति की साँस ली। जिस कार्य के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया वह आखिर पूरा हुआ। महाराज बड़े हो गये और स्वतन्त्र भी।

दुर्गादास की कीर्ति चारों ओर फैल गई। बड़े बड़े राजा महाराजा और सामन्त उनकी देशभक्ति, वीरता, और स्वामि-भक्ति से प्रभावित होकर उनका आदर करने लगे थे। लेकिन दुर्भाग्य से यही प्रतिष्ठा महाराज अजीतसिंह को चुभने लगी।

इतनी बड़ी तपस्या के बाद भी उनकी मुसिबतों का अन्त नहीं हुआ। अजीतसिंह ने कृतघ्नता का परिचय दिया और उनकी कीर्ति से जलकर उन्हें देश निकाला दे दिया।

जिस जन्म भूमि के लिए वीर दुर्गादास ने अपना सर्वस्व बलिदान किया और, जीवन के अच्छे दिन मुसीबतों से लड़ते लड़ते बिताये उसी मातृ भूमि से निवार्सित होने पर उन्होंने एक आह जरुर ली। क्योंकि यह कृतघ्नता और अविश्वास उनके लिये बहुत बड़ा शूल था। लेकिन वे तो साहस के धनी थे। जीवन में निराश और निरुत्साही होना उन्होंने सीखा ही नहीं था। उन्होंने मातृ भूमि को सजल नेत्रों से अन्तिम नमस्कार किया और विदा हो गये। वे मेवाड़ पहुंचे। महाराणा संग्राम-

सिंह द्वितीय ने उनका काफी आदर सत्कार किया। उर्दू के किसी कवि ने कहा है।

कद्रे गौहर जानता है शाह या कोइ जौहरी
हर बशर ने पाया नहीं है मर्तबा पहिचान का।

महाराणा ने उन्हें विजयपुर की जागीर एवं २५०००) मासिक देकर अपने पास रख लिया और कुछ समय बाद रामपुरे का हाकिम नियुक्त कर दिया। अपने अन्तिम समय तक वे इसी पद पर कार्य करते रहे।

उनका जन्म तो सं. १६९५ में हुआ था लेकिन मृत्यु की ठीक तिथि प्राप्त नहीं है। उज्जैन में क्षिप्रा के किनारे अपना नश्वर शरीर छोड़कर यह वीर सदैव के लिए अमर हो गया। उज्जैन में क्षिप्रा तट पर आज भी उनकी समाधि बनी हुई है। उस जीर्ण-शीर्ण समाधि में आज भी इतनी शक्ति है कि प्रत्येक व्यक्ति का सिर श्रद्धा से झुक जाता है। जोधपुर में आज भी दुर्गादास के वंशज बाधवास ठिकाने के स्वामी हैं। लेकिन दुःख है कि वहां उनका कोई स्मारक नहीं है। अच्छा हो अब भी मारवाड़ उनका स्मारक बनवाकर अपनी भूल का परिष्कार करले।

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

नहिं ज्ञानेन सदृश्यं पवित्र मिहि विद्यते
—गीता

'महानता' किसी विशेष क्षेत्र या दिशा में सीमित नहीं होती। एक समय था जब कि हमारी सभ्यता शैशवावस्था में थी। उस समय केवल वीरता और धर्म ही 'महानता' के क्षेत्र माने जाते थे। सिकन्दर, ईसा, बुद्ध उसी काल के महापुरुषों में से हैं। लेकिन सभ्यता के विकास के साथ महानता के क्षेत्र भी बढ़ने लगे और आज तो उनकी विविधता और व्यापकता का ठिकाना ही नहीं है। चाहे धर्म हो, चाहे राजनिति हो, चाहे विज्ञान हो, चाहे साहित्य हो, चाहे नीति हो, चाहे वीरता हो और चाहे कला हो चाहे अध्यात्म हो किसी भी क्षेत्र में जब कोई असाधारण उन्नति कर लेता है, मानव संसार को अपने कार्य से चकित कर देता है और उसके ज्ञान, कर्म या उपासना के कोष में कुछ नवीन और विशेष देन देता है तो हम उसे महापुरुष कहने लग जाते हैं। संसार की वर्तमान प्रगति और उत्थान का सारा श्रेय इन्हीं महापुरुषों को है। इन्हीं महापुरुषों के बल पर संसार इतना उन्नत, और सुन्दर दिखाई देता है। इन्हीं महापुरुषों ने अपना खून पसीना एक करके कूड़े कर्कट में पाटल पुष्प खिला दिये हैं, पत्थर और मिट्टी से महल बना दिये हैं एवं चट्टानों से हृदयहारी प्रतिमाओं का निर्माण कर दिया है। हम कह सकते हैं कि स्व. पं. गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा भी इस प्रकार के महापुरुषों में से एक हैं। उन्होंने इतिहास और पुरातत्व के ज्ञान में जो वृद्धि की है, और उसके द्वारा हिन्दुस्तान की जो सेवा की है वह चिरस्मरणीय रहेगी।

'महानता' देश-काल और परिस्थितियों से बंधी नहीं रहती। हाँ, उनकी अनुकूलता प्रतिभा के विकास में सहायक अवश्य होती है लेकिन यही प्रायः बाधक भी हो जाती हैं। कमल कीचड़ में खिलता है और हीरे मोती पहाड़ों और समुद्रों के गर्भ में मिलते हैं। अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को तोड़ फोड़कर वे प्रकाश में आ ही जाते हैं और अपनी प्रभा से जगत को जगमगा देते हैं। ओझाजी का जन्म ऐसे देश काल और परिस्थितियों में हुआ जो उनकी प्रतिभा के विकास में सहायक नहीं हुए। यदि उनका जन्म, यूरोप या अमेरिका में हुआ होता, उन्हें धनी और समृद्ध परिवार प्राप्त होता और ऐतिहासिक खोज के लिए अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती तो आज वे भारतवर्ष के ही नहीं दुनिया के बहुत बड़े महापुरुषों में गिने जाते। लेकिन फिर भी उनकी प्रतिभा प्रतिकूलता के बन्धन में पूरी तरह बँध नहीं सकी। निर्धन ब्राह्मण परिवार, भारतवर्ष जैसा गुलाम और अशिक्षित देश, तथा १९ वीं शताब्दी का उतरार्ध काल प्राप्त करके भी वे रुक या बँध नहीं सके। १५ सितम्बर १८६२ अथवा संवत् १९२० की भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को सिरोही राज्य के रोहेड़ा ग्राम में एक ओदीच्य ब्राह्मण के यहां उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम हीराचन्दजी था। हीराचन्दजी सीधे सच्चे ब्राह्मण थे। वे विद्या-व्यसनी और कर्म निष्ठ थे। उनके चार पुत्र थे। गौरीशंकर इनमें सबसे छोटे पुत्र थे। जब वे छः वर्ष के हुए तो उनको स्थानीय पाठशाला में भेजा गया। यहां उन्होंने २ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। इन दो वर्षों में वे हिन्दी पढ़ना लिखना, पट्टी पहाड़े और साधारण हिसाब किताब जानने योग्य हो गये। जब ये आठ वर्ष के हुए तो यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और कुल की परंपरा के अनुसार शुक्ल यजुर्वेद सीखाना प्रारंभ किया गया। एकबार संपूर्ण वेद पढ़कर कण्ठाग्र कर लेने के बाद आपने

अपने अध्यापक को एक एक अध्याय प्रतिदिन कंठाग्र करके ४० अध्याय ४० दिन में सुना दिये। आपकी कुशाग्र बुद्धि, परिश्रम और स्मरणशक्ति से अध्यापक चकित हो गये।

पिता भी बालक की प्रतिभा से प्रभावित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि गौरीशंकर को किसी प्रकार उच्च शिक्षा दिलवाने का प्रयत्न किया जाय। पिताजी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। हीराचन्दजी के पिता तो अच्छे व्यापारी और धनी थे लेकिन उनके बाद हीराचन्दजी के बड़े भाई ने सारा व्यापार चौपट कर दिया था। इस समय गौरीशंकर के बड़े भाई नन्दराम बम्बई में मुनीमी का काम कर रहे थे। उन्हीं के पास रखने का निर्णय करके उन्होंने इन्हें बम्बई भेज दिया।

बम्बई के एक प्रायवेट गुजराती स्कूल में आपकी शिक्षा प्रारंभ हुई। कुछ दिनों इस स्कूल में पढ़ने के बाद वे गोकुलदास तेजपाल सेमीनरी स्कूल में भर्ती हुए। जब वे १७ वर्ष के हुए तो एलफिस्टन हायस्कूल में भरती हुए। इन दिनों वे संस्कृत और प्राकृत का भी अध्ययन कर रहे थे। हायस्कूल में पढ़ने के बाद इसके लिए प्रतिदिन सुबह और शाम को विद्यालक्ष्मी पाठशाला जाया करते थे। बड़े भाई कालबादेवी में एक छोटी सी तंग कोठरी में रहते थे। इस छोटी सी और तंग कोठरी में पढ़ने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था अतः वे सामने वागीश्वरी के मन्दिर में चले जाते और परिक्रमा की जगह बैठकर पढ़ा करते थे। जब नींद आती तो वहीं सो जाते थे। यह पाठशाला पं० गट्टूलालजी की थी जो उस समय के संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान में से थे। २२ वर्ष की अवस्था में आपने मेट्रिकुलेशन पास किया और विलसन कालेज में भरती हुए। कालेज में आपने अंग्रेजी, संस्कृत, गणित और विज्ञान का अध्ययन प्रारंभ किया। आप काफी परिश्रम से पढ़ रहे थे लेकिन

ज्यों ही परीक्षा का समय आया, बीमार हो गये और परीक्षा में सम्मिलित न हो सके। बीमार होकर वे अपने जन्मस्थान रोहड़ा ग्राम चले आये और अध्ययन रुक गया। तीन मास पश्चात् आप ठीक होकर बम्बई आगये। अब आपने डिस्ट्रिक्ट प्लीडरी की परीक्षा में बैठने का विचार किया। तैयारी शुरु कर दी गई लेकिन वकालत करने की आपकी रुचि नहीं हुई। जब आप स्कूल में पढ़ रहे थे तभी एलफिस्टन स्कूल के सामने वाली जनरल लायब्रेरी के मेम्बर बन गये थे और उसमें अध्ययन किया करते थे। इस लायब्रेरी में आपने ग्रीस, रोम आदि के इतिहास का अध्ययन किया और भारत के प्राचीन इतिहास का भी अध्ययन शुरु कर दिया। आपको पुरातत्व सम्बन्धी जितने ग्रन्थ मिले, सब आपने पढ़ डाले। सौभाग्य से स्व. डा. भगवानलाल इन्द्रजी से आपका परिचय हुआ। डाक्टर साहब इतिहास के बड़े-बड़े विद्वानों में से थे। डाक्टर साहब के समागम से आपकी रुचि प्राचीन लिपियों के अध्ययन की ओर हुई। उस समय [illegible] पर कोई एक पुस्तक न थी। प्राचीन लिपियों पर जो लेख इधर उधर निकले थे उन सब को आपने पढ़ा और प्राचीन लिपियाँ सीखना प्रारंभ किया। थोड़े ही दिनों में आपने इस सम्बन्ध में काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक दिन डाक्टर साहब के घर पड़ी हुई मथुरा की एक कुषाण मूर्ति के नीचे लिखे हुए अभिलेख को आपने पढ़ डाला। यह देखकर डाक्टर साहब बड़े चकित हुए। आपकी प्रतिभा से उनको बड़ी खुशी हुई। वे उन दिनों गुजरात का प्राचीन इतिहास लिख रहे थे। आपसे इस काम में सहायता करने के लिए उन्होंने कहा।

इन्हीं दिनों प्राचीन मुद्राओं का ज्ञान प्राप्त करने का भी आपने प्रयत्न किया। डाक्टर भगवानलाल ने अपना प्राचीन क्षत्रप मुद्राओं का संपूर्ण संग्रह आपको सौंप दिया। इस संग्रह का आपने पूरी तरह अध्ययन किया। बम्बई की एशियाटिक

सोसायटी में उस समय जितने अभिलेख थे आपने उन सबको पढ़ डाला। मि. फोर्ब्स की एक अल्मारी को भी आपने पूरी तरह छान डाला। इस अल्मारी में मि. फोर्ब्स द्वारा संग्रहित अनेक प्राचीन पुस्तकें थीं, जिनमें राजपूताने के इतिहास-सम्बन्धी हस्त-लिखित पुस्तकें भी थीं। आबू के शिला-लेखों की कुछ छापें भी इस अल्मारी में थीं। ओझाजी ने इसको देखा। इन्हें देखकर आपको राजपूताने के इतिहास जानने की प्रबल इच्छा हुई। कर्नल टाड के राजस्थान के इतिहास को पढ़कर तो आपकी यह इच्छा और भी अधिक प्रबल होगई। अब अपने ऐतिहासिक ज्ञान को बढ़ाने के लिए आपने राजस्थान का भ्रमण करने का निश्चय किया। अपनी सहधर्मिणी के साथ रोहेड़ा ग्राम से वे उदयपुर के लिए पैदल रवाना हुए। गोगूँदा के रास्ते से तीन दिन चलकर प्रथम चैत्र बदि १ सं. १९४४ को उदयपुर पहुंचे। उन दिनों उदयपुर में महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास की अध्यक्षता में 'वीर विनोद' नामक एक बृहतऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा जा रहा था। इन्हीं दिनों कविराजा श्यामलदास एवं पं. विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या में पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के सम्बंध में विवाद चल रहा था। ओझाजी दोनों विद्वानों से मिले। आपने अपने विचार दोनों महानुभावों पर व्यक्त किये और उनके विचारों में आपको जो त्रुटियाँ दिखाई दीं वे भी आपने उन दोनों पर प्रकट कीं। रासो की प्रामाणिकता न मानने के सम्बन्ध में आपके विचार कविराजा से मिले। कविराजा आपकी विद्वत्ता से काफी प्रभावित हुए और उन्होंने आपसे वहीं रहकर इतिहास विभाग में कार्य करने का आग्रह किया। पहिले तो आपने इसे स्वीकार नहीं किया लेकिन बाद में जब यह आश्वासन दिया गया कि मेवाड़ के ऐतिहासिक स्थानों को देखने का ठीक प्रबन्ध सरकारी तौर से कर दिया जायगा तो आपने उसे स्वीकार कर लिया। इतिहास-

विभाग के सहायक मंत्री के पद पर आपकी नियुक्ति की गई। लेकिन कुछ समय बाद मंत्री की नियुक्ति अजमेर के मेयो कालेज में हो गई और आपको ही मन्त्री बना दिया गया।

सन १८९० में उदयपुर में विक्टोरिया हाल संग्रहालय खुला और ओझाजी को उसके क्यूरेटर के पद पर नियुक्त किया गया। अपने कार्य-काल में आपने वहां जिन प्राचीन मूर्तियों, अभिलेखों आदि का संग्रह किया वह बड़ा कीमती है। उसकी सब चीजें बड़े ऐतिहासिक मूल्य की हैं। दूसरी सदी से लेकर १७ वीं सदी तक की सामग्र इस संग्राहालय में है। इन्हीं दिनों उदयपुर के ज्योतिषी पं. विनायक शास्त्री के संसर्ग से आपकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी। अब आपने अपने सारे ग्रन्थ हिन्दी में लिखने का संकल्प किया।

सन् १८९४ में आपने 'प्राचीन लिपि माला' नामक ग्रन्थ लिखा। अबतक प्राचीन लिपियों के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ हिन्दी में नहीं था। भारतीय लिपियों के क्रमिक विकास और प्राचीन लिपियों को सीखने के लिए यह पहिला संङ्कलनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। दो साल बाद जर्मनी के डाक्टर बुइलर का जर्मन ग्रन्थ 'इन्डिश पालियोग्राफी' प्रकाशित हुआ। लेकिन वह 'प्राचीन लिपिमाला' की बराबरी नहीं कर सकता था। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि डॉ. बुइलर को उस ग्रन्थ के लेखन की प्रेरणा ओझाजी से ही मिली थी। इन्हीं दिनों आपने कर्नल टाड का जीवन-चरित्र लिखा।

नवम्बर १९०२ में भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन उदयपुर गये। उनको उदयपुर के ऐतिहासिक स्थान दिखाने का काम ओझाजी को सौंपा गया। लार्ड कर्जन आपकी योग्यता से बड़े प्रभावित हुए। यही कारण था कि सन १९०३ के दिल्ली दरबार में वाइसराय ने आपको भी निमन्त्रित किया।

प्राचीन लिपिमाला, कर्नल टाड का जीवन-चरित्र तथा सिरोही-राज्य के इतिहास का विद्वानों में बड़ा आदर हुआ। उदयपुर के इस धूलभरे हीरे को देखकर लोग चकित हो गये। आपने उत्साहित होकर प्राचीन ग्रंथ अभिलेखों आदि के आधार पर भारत के प्राचीन राजवंशों का इतिहास तैयार किया। इसी सिलसिले में मारवाड़ के राठौड़ों का इतिहास भी आपने लिखा। स्व. महाराजा प्रतापसिंहजी ने इस इतिहास की प्रशंसा कविराजा मुरारीदानजी से सुनी उन्होंने उदयपुर के महाराणा साहब को लिखकर आपको जोधपुर बुलवाया और उसे अद्योपान्त सुना। सन् १९०४ में जब डाक्टर ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की पड़ताल का काम अपने हाथ में लिया तो उदयपुर राज्य की ओर से उस सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार करने का काम आपके सिपुर्द किया गया। यह काम भी आपने बड़ी योग्यता से सम्पादन किया। इन्हीं दिनों जब ब्रिटिश सरकार ने मेवाड़ में रहने वाली जातियों के रीति-रिवाज तथा इतिहास लिखवाने की प्रेरणा उदयपुर दरबार को दी तो यह कार्य भी आपको ही सौंपा गया। इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया भी इन्हीं दिनों बनना शुरू हुआ था। अतः राजस्थान गजेटियर तैयार करने का काम कर्नल अर्सकिन को सौंपा गया। कर्नल अर्सकिन ने इस कार्य में सहायता प्राप्त करने के लिए उदयपुर दरबार को लिखकर ओझाजी को मांगा। ओझाजी ने आबू पहुंचकर इस कार्य में भी बड़ी मदद की। इन तत्कालीन बड़ी बड़ी ऐतिहासिक शोध के कामों में सदैव लोगों की नजरें ओझाजी पर जा लगीं और उनके सहयोग की मांग की गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि ओझाजी ने इन सारे कार्यों को अच्छी तरह संपादित किया।

सन १९०९ में आपका सोलंकियों का इतिहास प्रकाशित हुआ। इन्हीं दिनों कर्नल टाड के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद

करवाया गया। इस पर टिप्पणी लिखने का काम आपको सौंपा गया। उसके १४ प्रकरण आपकी टिप्पणी सहित प्रकाशित हुए। आपकी टिप्पणियां बड़ी खोजपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। अपनी टिप्पणियों के द्वारा आपने कर्नल टाड की बहुत-सी भूलों का भी सुधार कर दिया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि अपनी उदयपुर यात्रा में लार्ड कर्जन ओझाजी की विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुए थे और उन्होंने दिल्ली दरबार में भी उन्हें विशेष निमंत्रण देकर बुलवाया था। लार्ड कर्जन की यह बड़ी इच्छा थी कि राजपूताने में पुरातत्व शोध का काम शुरु किया जाय और ओझाजी को ही यह कार्य सौंपा जाय। अजमेर में एक म्यूजियम खोलने की बात वे सोच ही रहे थे कि उनको हिन्दुस्तान छोड़कर जाना पड़ा। उनकी यह इच्छा अधूरी ही रही लेकिन लार्ड मिन्टो की सरकार ने यह काम अपने हाथ में लिया। उसने उदयपुर दरबार से आपको मांगा और राजपूताना म्यूजियम का क्यूरेटर नियुक्त किया।

उदयपुर में ओझाजी ने अपने ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि तो अवश्य की लेकिन आपको राज्य की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। आपकी सेवाओं की भी विशेष कद्र नहीं की गई। इससे आप में कुछ उदासीनता सी आ गई। उन दिनों राज्य के खिलाफ अखबारों में कुछ न कुछ निकला करता था। यदि ओझाजी अपने लेख अखबारों में भेजते तो सरकार आप पर भी शक कर सकती थी। अतः आप अखबारों में लेख भेजने से बचते रहे। यदि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उस समय आपके लेख प्रकाशित होते रहते तो शायद वे हिन्दी संसार के सामने बड़ी जल्दी आ गये होते। अजमेर आ जाने पर ही आपने सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखना प्रारंभ किया। इसका

परिणाम यह हुआ कि देश विदेश में आपकी ख्याति फैली और आप दुनिया की नजर में आये। आपने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में भी लिखना शुरू किया। 'भारतवर्ष के इतिहास की प्राचीन सामग्री' नामक पुस्तिका भी इन्हीं दिनों प्रकाशित हुई। इस पुस्तक पर नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको एक पदक भेंट किया। यहीं आपने स्व. महेता जोधसिंह से मिलकर राजपूताने की ऐतिहासिक दन्तकथाओं का भी संग्रह करना प्रारंभ किया। इसका प्रथम पुष्प खड्गविलास प्रेस पटना से प्रकाशित हुआ।

भारत सरकार ने आपकी सेवाओं की कद्र की और १९११ के दिल्ली दरबार में फिर निमन्त्रित किया। सन १९१४ में आपको रायबहादुर और १९२८ में महा-महोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दू विश्व विद्यालय ने आपको डी. लिट्. की से और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने विद्या-वाचस्पति की उपाधि से भी विभूषित किया।

सन् १९१८ में प्राचीन लिपिमाला का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। विद्वानों में इस पुस्तक का काफी आदर हुआ। सन १९२४ में इसी पुस्तक पर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन में आपको २०००) का मंगला प्रसाद परितोषिक प्रदान किया गया। सन् १९२० में नागरी प्रचारिणी पत्रिका को पुरातत्त्व शोध की पत्रिका बना देने का निर्णय किया गया और आप उसके अवैतनिक संपादक बनाये गये। लगातार १३ वर्ष तक आपने बड़ी योग्यता के साथ इस पत्रिका का संपादन किया।

अब आपकी सेवाओं से हिन्दी संसार पूरी तरह परिचित हो गया और आपकी ख्याति देश ही नहीं विदेशों में भी फैल गई। सन् १९२७ में आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भरतपुर अधिवेशन के सभापति चुने गये। आपकी विद्वत्ता और हिन्दी

सेवा का ही परिणाम था जो आपको इतना महत्वपूर्ण पद दिया गया। आपकी अपनी मातृ-भाषा गुजराती थी लेकिन हिन्दी को आपने राष्ट्र भाषा के रुप में देखा था और उदयपुर से ही उसमें लिखना प्रारंभ कर दिया था। आपके हिंदी प्रेम का ही यह परिणाम था कि आपने अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। हिन्दी के ऐतिहासिक कोष को भरने में ओझाजी का स्थान सर्वोपरि है। सन् १९१८ में नाडियाद में गुजराती साहित्य परिषद के इतिहास विभाग के सभापति का पद भी आपने सुशोभित किया। सन १९२८ में इलाहबाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी यू. पी. की ओर से आपने 'मध्य कालीन भारतीय संस्कृति (६०० से १२०० तक) पर तीन महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों को बाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने पुस्तक रुप में प्रकाशित करवाया। इसके गुजराती और उर्दू अनुवाद भी छप चुके हैं।

ओझाजी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य और उनके समूचे जीवन के अध्ययन का परिणाम है 'राजपूताने का इतिहास'। यह इतिहास राजपूताने का कीर्ति स्तंभ है। छः बड़ी बड़ी जिल्दों में यह समाप्त हुआ है। इसे पूरा करने के लिये उन्होंने अपनी ७० वर्ष की अवस्था में भी युवकों जैसे उत्साह से काम किया था। जोधपुर और बीकानेर राज्य के इतिहास आपने २-२ जिल्दों में लिखे हैं। आपके लेखों का एक बड़ा संग्रह राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर से प्रकाशित होने वाला है।

ऐतिहासिक ज्ञान की बड़ी जबरदस्त विरासत छोड़कर ओझाजी १७ अप्रेल १९४७ को परलोकवासी हो गये। आपका देहान्त भी अपने जन्म स्थान रुहेड़ा ग्राम में ही हुआ।

ओझाजी की विद्वत्ता और ऐतिहासिक ज्ञान अद्वितीय था। उन्होंने अपना सारा जीवन 'ज्ञान'—खासकर ऐतिहासिक ज्ञान में व्यतीत कर दिया। राजपूताने के इतिहास में जो भूलें थीं

उन्हें आपने सुधारा और जिस समय का इतिहास प्राप्त नहीं था वह भी आपने अपनी खोज से ढूंढ निकाला। राजपूताने के इतिहास की टूटी हुई शृँखलाओं को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य ओझाजी ने ही किया। आपने ऐसे कई सिक्के, शिलालेख, हस्तलिखित ग्रन्थ, और ताम्र-पत्र इकट्ठे किये जिनसे राजपूताने के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आपकी 'प्राचीन लिपिमाला' तो अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ था। उस समय तक संसार की किसी भाषा में उस तरह ग्रन्थ नहीं था। भारत तथा बाहर के विद्वानों ने मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा की है। कर्नल टाड के राजस्थान में कई भूलें थीं अपनी टिप्पणियों द्वारा आपने उन्हें ठीक किया और कर्नल टाड का जीवन चरित्र भी लिखा। आपका सोलंकियों का इतिहास भी अद्वितीय है। हिन्दी में उस समय तक इस गौरवशाली जाति का कोई सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास नहीं था। इस ग्रन्थ की भी काफी प्रशंसा हुई। नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको इस ग्रन्थ के लिए एक पदक प्रदान करके सम्मानित किया था। राजपूताने के इतिहास के एक-एक पृष्ठ में आपका गंभीर अध्ययन और अथक परिश्रम झलकता है। यह इतिहास अपने ढंग का एक ही है। आपका दिमाग ऐतिहासिक घटनाओं का एक अटूट भंडार-सा था और आपकी स्मरण शक्ति तो असाधारण थी। कुछ विद्वानों का मत है कि राजपूताने का इतिहास गिबन के 'राइज एन्ड फाल ऑफ दी रोमन एम्पायर' की भांति युगान्तरकारी सिद्ध हो रहा है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि ओझाजी अपने समय के बहुत बड़े इतिहासज्ञ थे।

ओझाजी द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—

[१] प्राचीन लिपि माला [२] भारतीय प्राचीन लिपिमाला [३] सोलंकियों का इतिहास [४] सिरोही राज्य का इतिहास [५] बापा रावल का सोने का सिक्का [६] वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप

[७] मध्य कालीन भारतीय संस्कृति [८] राजपूताने का इतिहास (४ भाग) [९] उदयपुर राज्य का इतिहास (२ भाग) [१०] भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री [११] कर्नल जेम्स टाड का जीवन चरित्र [१२] राजस्थान की ऐतिहासिक दन्त कथा (प्रथम-भाग) [१३] नागरी अंक और अक्षर।

उनके सम्पादित ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—

[१] अशोक की धर्म लिपियाँ [२] सुलेमान सौदागर [३] प्राचीन मुद्रा [४] नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १ से १२ [५] कोशोत्सव स्मारक संग्रह [६] हिन्दी टाड राजस्थान (पहिला और दूसरा खण्ड) [७] जयानक प्रणीत पृथ्वीराज विजय महाकाव्य सटीक [८] जयसोम रचित कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनक काव्यम् [९] मुहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग) [१०] गद्य रत्नमाला [११] पद्य रत्नमाला !

ओझाजी के सारे ग्रन्थों की भाषा बड़ी सरल और विशुद्ध है। हिन्दी भाषा का जिसे थोड़ा-सा भी ज्ञान हो वह आपकी भाषा अच्छी तरह समझ सकता है। आपकी भाषा सरल होने के साथ-साथ संयत और व्यवहारिक भी है। उसमें प्रौढ़ता है। ओझाजी ने जहाँ तक हो सका संस्कृत के शब्द ही अपनाये है लेकिन अरबी फारसी के शब्दों का एकदम बहिष्कार भी नहीं किया है। अरबी फारसी के सरल एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आपने किया है। इसी प्रकार आपने राजस्थानी भाषा के शब्दों का भी यथा स्थान प्रयोग किया है। आपकी भाषा ठीक उसी तरह की है जिसे हम राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। आपकी रचनाओं में धारावाहिकता का भी एक बड़ा गुण है। उनके ग्रन्थ लम्बे-लम्बे और खोजपूर्ण हैं लेकिन पाठक को कहीं भी प्रवाह-भंग होता हुआ दिखाई नहीं देता। आपके वाक्य लम्बे होते हैं लेकिन वे जंजीर की कड़ी की भांति एक दूसरे से मजबूती के साथ जुड़े रहते हैं। न तो कहीं

पांडित्याभिमान है न अस्वाभाविकता ही। व्यर्थ का वागाडम्बर तो आपको छू तक नहीं गया है। तथ्य-निरूपण के लिए जैसे शब्दों की आवश्यकता हुई वैसे ही शब्दों का आपने प्रयोग किया है। कहीं कहीं आपने आलंकारिक भाषा का प्रयोग भी किया है, जिससे वर्णन में सजीवता आ गई है।

ओझाजी बड़े ही मिलनसार, प्रसन्नमुख और शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे। इतने बड़े विद्वान होने पर भी उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया था। आपकी वेश भूषा भी बड़ी ही सादी थी। जो व्यक्ति आपके सम्पर्क में जितना आता था उतना ही आपसे प्रभावित होता था। आप बड़े अध्यव्यवसायी और परिश्रमी थे। अपनी वृद्धाव्यस्था के समय भी काम में जुटे रहते थे। उस समय भी आपमें युवकों जैसी ही लगन थी। अपने ऐतिहासिक ज्ञान के बल पर एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त व्यक्ति बन गये थे। आपको संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का असाधारण ज्ञान था। वे अंग्रेजी भी अच्छी तरह लिख लेते थे लेकिन उन्होंने हिन्दी को अपनाकर उसी के ज्ञान कोष में वृद्धि की।

ओझाजी अभी-अभी हमारे बीच से उठे हैं लेकिन उन्होंने हिन्दी-संसार को जो कुछ दिया उसके कारण वे युगों तक अमर रहकर इतिहास के प्रेमियों का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे।

जमनालालजी बजाज

"नत्वहं काम ये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवं
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्

स्वर्गीय जमनालालजी बजाज वह दिव्य विभूति थे जिन पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। उन्होंने एक दो नहीं अनेक कार्य-क्षेत्रों में देश का नेतृत्व किया था। वे एक लोक-नेता थे, संगठन-कर्ता थे, समाज-सुधारक थे, त्याग-मूर्ति थे, भक्त थे, साधक थे और थे प्रेम की साकार मूर्ति। भक्त में व्याकुलता होनी चाहिए, साधक में नियम-निष्ठा और प्रेमी में प्रेम-पात्र के लिये सर्वस्व बलिदान की तैयारी। वे भक्त थे भारत माता के, साधक थे जीवन के, व प्रेमी थे मानव-जाति के। उन्होंने अपने जीवन में जो सुयश प्राप्त किया उसकी कुंजी इस त्रिपुटी में है। जिसने देश को पकड़ा लेकिन अपने जीवन को छोड़ दिया वह मानों बालू पर महल खड़ा कर रहा है, जिसने अपने जीवन को तो साधना चाहा पर मानव-जाति को बिसार दिया मानों जीवन का ओर-छोर ही उसके हाथ न आया।

जमनालालजी का जन्म सीकर ठिकाने के [illegible] नामक छोटे से ग्राम में ४ नवम्बर सन् १८८९ में हुआ। आपके पिता सेठ कनीरामजी साधारण स्थिति के अग्रवाल वैश्य थे। वे साधारण लेन देन और कृषि के द्वारा अपना निर्वाह करते थे। जमनालालजी बचपन में ही तेजस्वी और प्रतिभाशाली दिखाई देते थे। जो आदमी आपको देखता वह यही कहता—'लड़का होनहार

है'। काशीकावास में आपके विकास के लिए क्षेत्र कहां था ? एक विचित्र संयोग आया। वर्धा के प्रसिद्ध धनी सेठ बच्छराजजी काशीकावास आये । वे कनीरामजी से मिले और बालक जमनालाल को भी देखा । बालक की प्रतिभा और तेजस्विता पर मुग्ध हो गये । सेठजी के एकमात्र पुत्र रामधनदासजी का देहावसान हो चुका था। सेठजी की पत्नी ने जमनालालजी की माता सौः बिरधीबाई के सामने अपना दुःख प्रकट किया और कहा कि 'मेरा वंश डूब रहा है।' सौः बिरधीबाई का सहानुभूतिशील हृदय दयार्द्र हो गया। बोली—"आप क्यों रंज करती हैं ? जमनालाल आपका ही तो है।" बालक जमनालाल उस समय वहीं खेल रहा था। बच्छराजजी की पत्नी ने उन्हें गोद में उठा लिया और चूमने लगी। कुछ दिन के बाद सेठजी वर्धा जाने की तैयारी करने लगे और उन्होंने जमनालालजी को अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव किया। सौः बिरधीबाई को यह कल्पना न थी कि केवल सहानुभूति में दयार्द्र हो जाने का इतना मूल्य चुकाना पड़ेगा। पति पत्नि दोनों ही विचित्र स्थिति में पड़ गये। बच्छराजजी तो उन्हें ले जाये बिना गांव छोड़ने को तैयार नहीं थे । आखिर कनीरामजी और बिरधीबाई ने जमनालालजी को गोद दे दिया।

सेठ बच्छराजजी काफी प्रतिष्ठित, धनाढ्य और सम्मानित व्यक्ति थे। वे बहुत बड़े जमींदार और ऑनरेरी मॅजिस्ट्रेट भी थे। एक तो धनी, दूसरे पुत्रविहीन । अतः जमनालालजी का पालन-पोषण बड़े लाड़ चाव से करने लगे। उनकी शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। उन्हें स्थानीय स्कूल में भर्ती कराया गया। जमनालालजी ने ४ थी कक्षा तक मराठी पढ़ी। इसी प्रकार थोड़ीसी अंग्रेजी सीखी और अपनी शिक्षा समाप्त करदी। स्कूली पढ़ाई समाप्त करने के साथ ही उन्होंने सच्चे अर्थ में पढ़ाई को समाप्त नहीं किया। सच्ची पढ़ाई तो वे जीवनभर तक

पढ़ते रहे। चरित्रबल और सद्‌गुणों को प्राप्त करने में वे अपना बहुत-सा समय खर्च करते रहे।

इसी अवस्था में एक ऐसी घटना हुई जिससे उनकी साधुता, ईमानदारी, और सत्य-निष्ठा का परिचय मिलता है। सेठ बच्छराजजी ने एक दिन उन्हें पैसे के सम्बन्ध में झिड़क दिया। बोले—"तुम्हें मेरे पैसे से प्रेम है मुझसे नहीं। तुम वापिस अपने पिता के यहाँ चले जाओ।" जमनालालजी बड़े स्वाभिमानी थे। उन्हें बुरा कैसे नहीं लगता? लेकिन इस घटना से उन्हें अपने नैसर्गिक गुणों को प्रकट करने का मौका मिला। उन्होंने झटपट अपना बंधना-बोरिया बाँधा और घर से बाहर हो गये। स्वाभिमानी जमनालाल ने दौलत को लात मार दी। बच्छराजजी ने सोचा होगा कि जमनालालजी को निकालना कठिन है। दत्तक पुत्र का तो कानून से हिस्सा है ही अतः जमनालालजी अपना हिस्सा माँग सकते हैं। कोर्ट में दावा भी कर सकते हैं। लेकिन जमनालालजी तो निस्पृही और निर्लोभी थे। बच्छराजजी को इस चिन्ता से मुक्त करने के लिए आपने एक पत्र लिखा और अपने सारे कानूनी अधिकारों को तिलांजलि दे दी। आपने एक दस्तावेज लिखकर उसपर बाकायदा स्टाम्प लगाया ताकि बच्छराजजी पूरी तरह निश्चिन्त हो जाय। जब पत्र और दस्तावेज बच्छराजजी को मिला तो वे [illegible] के त्याग, निर्भयता, स्वाभिमान और स्वावलम्बन को देखकर गद्‌गद् हो गये। जमनालालजी के इस अहिंसक व्यवहार ने सेठजी पर जबरदस्त असर डाला। उन्होंने अपनी भूल अनुभव की और उन्हें वापिस बुला लिया।

उस समय जमनालालजी की उम्र केवल १७ वर्ष की थी। इस उम्र में ही उन्होंने जो दस्तावेज लिखा वह अनूठा है और उसके एक एक शब्द से जमनालालजी का आत्मविश्वास और

निर्भयता टपकती है। उससे प्रकट होता है कि वे धर्म में कितना विश्वास करते थे, दान में उनकी कितनी अभिरुचि थी और विपक्षी के प्रति भी उनमें क्रोध का कितना अभाव था। इन्हीं गुणों में उनकी महानता के बीज छिपे हुए थे। पत्र और दस्तावेज इस प्रकार हैं—

॥ श्री गणेशजी ॥

सिद्ध श्री वर्धा शुभस्थान पूज्य श्री बच्छराजजी रामधनदास सूं लिखी चि. जमन का पांवां धोक बांचीज्यो। अठे उठे श्री लक्ष्मीनारायणजी महाराज सदा सहाय छे। अपरंच समाचार एक बांचीज्यो। आपकी तबियत आजदिन हमारे ऊपर निहायत नाराज हो गई सो कुछ हरकत नहीं। श्री ठाकुरजी की मर्जी और गोद का लियोड़ा था जद आप इस तरह कह्यो। सो आपको कुछ कसूर नहीं। जिको हमाने गोद दियो जिनको कसूर छे। आप कह्यों कि तुम नालीस करो सो ठीक। बाकी हमारो आपके ऊपर कुछ कर्जो छे नहीं। आपको कमायेड़ो पीसो छे। आपकी खुसी आवे सो करो। हमारो कुछ आप ऊपर अधिकार छे नहीं। हमां आपसूं आज मिती ताईं तो हमारे बारे में अथवा हमारे ताईं जो खर्च हुयो सो हुयो बाकी आज दिन सूं आप कने सूं एक छदाम-कोड़ी हमां लेवांगा नहीं अथवा मंगावांगा नहीं। आप आपके मनमां कोई रीत का विचार करजो मत ना। आपकी तरफ हमारी कोई रीत को हक आज दिन सूं रह्यो छे नहीं और श्री लक्ष्मीनारा-यणजी सूं अर्ज ये है कि आपको शरीर ठीक राखे और आपके हाल २०–२५ बरस तक कायम राखे और हमां जठे जावांगा वठे सूं थाके ताईं इस माफक ठाकुरजी सूं विनती करांगा। और म्हारे सूं जो कुछ कसूर आज ताईं हुयो सो सब माफ करजो और आपके मन में हो कि सब पीसां का साथी है, पीसां का ताईं सेवा करे छे सो हमारे मनमां तो आपके पीसां की बिलकुल छे

नहीं। और जो ठाकुरजी करेगा तो आपके पीसे की हमारे मन में आगे भी आवेगी नहीं। कारण हमारो तकदीर हमारे साथ छे। और पीसो होकर हमां काई करांगा। म्हाने तो पीसा नजीक रहने की बिलकुल परवा छे नहीं। आपकी दया से श्री ठाकुरजी का भजन सुमिरन जो कुछ होवेगा सो करांगा। सो इस जनम मांही भी सुख पावांगा। आप आपके चित्तमां प्रसन्नता राखियो। कोई रीत की फिकर करजो मतना। सब झूठा नाता छे। कोई कोई को पोतो नहीं और कोई कोई को दादो नहीं। सब आप आप का सुख का साथी छे। सब झूठो पसारो छे। आप हाल ताईं माया जाल में फँस रह्या छो। हमां आज दिनां आपके उपदेश सूं मायाजाल सूं छूट गया छूं। आगे श्री भगवान संसार सूं बचावेगा। और आपके मन मां इस तरह बिलकुल समझो मतना कि हमारे ऊपर नालिस फरयाद करेगा। हमां हमारे राजी खुसी सूं टिकिट लगाकर सही कर दीनी छे कि आपके ऊपर अथवा आपकी स्टेट, पीसा, रुपया, गहना, गाठी और कोई भी सामान ऊपर आज से बिलकुल हक रह्यो नहीं सो जाणजो। और हमारे हाथ को कोई को करजो छे नहीं। कोई ने भी एक भी पीसो देनो छे नहीं सो जाणज्यो। और तो समाचार छे नहीं। और समाचार तो बहुत छे परन्तु हमारे सूं लिख्यो जावे नहीं।

सम्वत् १९६४ मिती बैसाख बिदी २ मंगलवार।

जमनालालजी का यह पत्र उनकी त्याग भावना का प्रतीक है। बाल्यावस्था में ही सत्याग्रही के उच्चतम गुण उनमें मौजूद थे। यह पत्र ही उनके यश को अक्षुण्य बनाये रखने के लिये काफी है। आई लक्ष्मी से मुँह मोड़कर, बिना किसी उद्वेग या विषाद के इतनी बड़ी संपत्ति को लात मारने वाले कितने मिलेंगे!

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई। सन् १९०६ में नागपुर से

'हिन्दी-केसरी' निकालने का आयोजन किया गया। पत्र को आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। अतः अपील निकाली गई। जमनालालजी उन दिनों समाचार-पत्र बड़े शौक से पढ़ने लगे थे। देशभक्ति की भावना भी बढ़ती जा रही थी। फिर 'केसरी' तो लोकमान्य का पत्र था। लोकमान्य तिलक उस समय युवकों और देशभक्तों के आराध्य थे। जमनालालजी की दृष्टि इस अपील पर पड़ी। कुछ न कुछ देने के लिए वे उतावले हो उठे इन दिनों उनको हाथ खर्च के लिए १) प्रतिदिन मिलता था। इस हाथ खर्च को ही बचा बचाकर उन्होंने १००) जमा कर लिए थे। यही उनकी पूंजी थी। अपनी इसी पूंजी को उन्होंने सहायतार्थ भेज दिया। इस छोटी-सी उम्र में उन्होंने यह छोटा-सा दान दिया लेकिन यदि वास्तव में देखा जाय तो उनका यह छोटा कहा जाने वाला दान बड़े-बड़े दानों से किसी कदर कम नहीं है। इसमें न यश की भावना थी, न अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा। यह सच्चा सात्विक दान था। इसी दान में उनकी राष्ट्रीयता, त्याग, दानशीलता और उदारता के वे बीज छिपे हुए हैं जो आगे चलकर विशाल वट-वृक्ष का आकार धारण करके उनको महानता के परिचायक बने।

सं. १९५८ में सेठजी का विवाह लक्ष्मणगढ़ निवासी सेठ गिरधरलालजी की पुत्री जानकीदेवी के साथ बड़ी धूम धाम से हुआ। अब आपने वैभव, यश और सम्पन्नता के जीवन में प्रवेश किया। जानकीदेवी ने उनकी सहधर्मिणी बनने का पूरा प्रयत्न किया। स्वयं सेठजी भी इस बात को मानते थे कि उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया उसमें जानकीदेवी का बहुत बड़ा योग था। सेठजी की सच्ची सहचरी के रूप में उन्होंने सदैव अपना कर्तव्य पूरा किया और आलोचनाओं, मुसीबतों और प्रतिकूल परिस्थितियों में सदैव उनका साथ दिया। उन्होंने सदैव इस बात का

प्रयत्न किया कि वे सेठजी की आकांक्षाओं और उमंगों के अनुरूप बन सकें। वे पढ़ी-लिखी नहीं थीं लेकिन उन्होंने मराठी और हिन्दी पढ़ना प्रारंभ किया और उसका साधारण ज्ञान प्राप्त किया। वे रूढ़ि और सामाजिक बन्धन तोड़कर जमनालालजी के साथ खड़ी हुईं और उनके प्रत्येक कार्य में सहयोग देने के लिए तत्परता से काम करने लगीं। उन्होंने जेवर और पर्दे को तिलांजलि दी और मारवाड़ी समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित किया।

एक तो यौवन दूसरे वैभव और अधिकार, यह एक ऐसा मेल है, ऐसा प्रवाह है, जिसके सामने विरले ही अचल रह सकते हैं। लेकिन जमनालालजी इस प्रवाह में बह नहीं सके। सेठ बच्छराजजी के स्वर्गवास के बाद अपार सम्पति पाकर न तो उनमें अधिकारमद पैदा हुआ न उच्छृंखलता। उन्होंने व्यापार और व्यवसाय की बागडोर अपने हाथ में ली और उसे कुशलता से संभाला। सेठजी ने बम्बई और कलकत्ते में अपनी दुकानें खोलीं और अपने व्यापारिक क्षेत्र का विस्तार किया। व्यापार में वे इतने कुशल थे कि आगे चलकर उन्होंने बहुतसा लाभ उठाया और अनेक बड़ी बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के डायरेक्टर बने। सरकार में भी सेठ बच्छराजजी की ही भाँति उनका सम्मान होने लगा। सन् १९०८ में ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के स्थान पर उनकी नियुक्ति हुई। इस समय वे १९ वर्ष के थे। सेठजी ने अपनी जिम्मेदारी समझकर इस पद के कार्य को पूरी तरह निभाया। लेकिन इस पद पर कार्य करते समय वे सरकारी कर्मचारियों के सम्पर्क में भी आये। सरकारी कर्मचारियों की मनमानी और खासकर पुलिस विभाग का दुर्व्यवहार तो उनके लिए असह्य-सा होने लगा। वे एक बड़े जमीदार भी थे अतः सरकारी कर्मचारियों और पुलिस से काम पड़ता रहता था। पुलिस का व्यवहार उन्हें अपमानजनक और अहंमन्यता पूर्ण लगता था।

सरकारी ऑफिसरों के दुर्व्यवहार से उन्हें एक आघात-सा लगा। उनसे अधिक सम्पर्क बढ़ाने का तो प्रश्न ही नहीं था वे उसे सीमित करने लगे। उन्होंने समाज-सेवा की ओर ध्यान लगाया। यह रुचि उत्पन्न करने में श्री. श्रीकृष्णदासजी जाजू का बहुत बड़ा हाथ रहा। जाजूजी सन् १९०५ में वर्धा आकर वकालात करने लगे थे। वे उच्चकोटि के विद्वान और समाज सुधारक थे। उनके सम्पर्क का जमनालालजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनमें अध्यात्मिक व्याकुलता उत्पन्न हुई। वे जीवन को विकास की ओर ले जाने के लिए उतावले हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि उनमें स्वयं इतनी शक्ति नहीं है जो ठीक दिशा मालूम कर लें और दृढ़ता के साथ उस ओर बढ़ चले। अतः उन्होंने मार्ग-दर्शक की खोज प्रारम्भ की और इसके लिए उन्होंने उस समय के सारे बड़े-बड़े आदमियों से भेंट की। अपने मार्ग-दर्शक के लिए उन्होंने एक कसौटी बना रखी थी। वह थी महात्मा रामादास की यह उक्ति—"बोले तैसा चाले, त्याची वंदावी पाउलें।" वे ऐसा मार्ग-दर्शक चाहते थे जिसकी वाणी और कर्म में साम्य हो। वे मालवीयजी से मिले, सर जगदीशचन्द्र बसू से मिले और जब लोकमान्य तिलक माण्डले जेल से छूटे तो वे उनसे भी मिले। लोकमान्य के विचारों का उनपर काफी प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों गांधीजी दक्षिण अफ्रिका से लौटकर आये। वे अहमदाबाद के कोचरब मुहल्ले में रहने लगे थे। जमनालालजी चार बार गांधीजी के पास गये और उनसे मिले। 'बोले तैसा चाले' वाली कसौटी पर गांधीजी ही खरे उतरे। अतः वे गांधीजी के भक्त बन गये। कुछ दिनों के बाद तो यह सम्बन्ध इतना गहरा हो गया कि उन्होंने गांधीजी के सामने जाकर यह प्रस्ताव रख दिया कि—"मुझे देवदास भाई की तरह अपना पुत्र मान लीजिये।" उनके इस प्रस्ताव में निष्ठा और आध्यात्मिक व्याकुलता भरी हुई थी। भक्ति से तो भगवान वश

में हो जाते हैं। गांधीजी कैसे इन्कार करते ? जमनालालजी गांधीजी के पुत्र बन गये और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को जिस प्रकार निभाया वह गांधीजी के इन शब्दों से प्रकट होता है—"वे किस तरह मेरे पुत्र बन कर रहे यह हिन्दुस्थान वालों ने कुछ कुछ अपनी आखों देखा है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मैं कह सकता हूँ कि ऐसा पुत्र आज तक किसी को नहीं मिला।"

जमनालालजी स्वभाव से ही सेवाशील थे। सबसे पहिले उनकी दृष्टि अपने समाज की दुर्दशा पर गई। उन्होंने अनुभव किया कि समाज की सारी बुराइयों का मूल अशिक्षा है। यदि लोगों में शिक्षा का प्रचार हो तो बहुत-सी मुसीबतें मिट सकती हैं। उन्होंने इस दिशा में कदम बढ़ाया। श्री जाजूजी के सहयोग से उन्होंने १ फरवरी १९१० को वर्धा में मारवाड़ी विद्यार्थी-गृह की स्थापना की और १९१२ में मारवाड़ी हायस्कूल खोला। जमनालालजी की ही इस प्रेरणा से बम्बई में मारवाड़ी विद्यालय हायस्कूल की स्थापना हुई। शेखावाटी मे भी यह लहर फैली और वहां भी मारवाड़ी शिक्षा-मण्डल की स्थापना हुई। सेठजी ने इन संस्थाओं का संचालन और जाजूजी ने पोषण किया। वर्धा में एक कन्या पाठशाला भी खोली गई और आगे चलकर 'मारवाड़ी विद्यालय' कायम किया गया जो आज तक नवभारत विद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। इन सब संस्थाओं के सुसंचालन के लिए 'मारवाड़ी शिक्षा-मण्डल' की स्थापना की गई। सेठजी ही इस शिक्षा-मण्डल के पहिले सभापति थे। उन्होंने इस मण्डल को ८० हजार रुपये दान किये और अन्त तक इसमें दिलचस्पी लेते रहे। उनकी सत्प्रेरणा से इस मण्डल के अन्तर्गत "श्री गोविन्दराम सेक्सरिया कामर्स कालेज" की स्थापना हुई। उन्होंने ही "मारवाड़ी अग्रवाल सभा" की स्थापना की और उनके ही प्रयत्न से 'जातीय कोष' भी कायम हुआ जिसमें उसी समय सात आठ हजार रुपया एकत्र हो गया था।

सेठ जमनालालजी ज्योंही गांधीजी के सम्पर्क में आये उनके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगा उन्होंने अपनी कन्या सौ० कमला का विवाह अत्यन्त सादगी और बिना पर्दे के साबरमती आश्रम में किया। इस विवाह में न तो कोई आडम्बर था न किसी प्रकार की कुरीति को ही अपनाया गया था। स्वयं गांधीजी ने वर वधू से विवाह की प्रतिज्ञा करवाई और उन्हें आशीर्वाद दिया। आगे तो सौ० मदालसा और उमादेवी के विवाह भी इसी सादगी और आदर्श के साथ सम्पन्न हुए। इतना ही नहीं आपने अपने भतीजे श्रीराधाकृष्ण बजाज का विवाह जाति-पाँति के बन्धन को तोड़कर अपने मित्र और सहयोगी श्री श्रीकृष्णदासजी जाजू की कन्या के साथ किया। इस विवाह ने सारे मारवाड़ी समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस प्रकार समाज-सुधार की दृष्टि से सेठजी ने मारवाड़ी समाज का जो अत्यन्त पिछड़ा हुआ था क्रान्तिकारी नेतृत्व किया। सामाजिक बन्धन को तोड़कर वे निर्भीकता के साथ आगे बढ़े और अपने साथ कई लोगों को चलने की प्रेरणा देते रहे।

सेठजी की सामाजिक सेवाओं और दानशीलता से प्रभावित होकर सरकार ने उनको सन् १६१७ में रायबहादुरी का खिताब दिया। इस समय वे पहिली बार कलकत्ता कांग्रेस में शरीक होने के लिए आये थे। यहीं उन्हें यह समाचार मिला। गांधीजी भी कांग्रेस के अधिवेशन में आये थे और वे जमनालालजी के ही मेहमान थे। रायबहादुरी का खिताब मिलने का समाचार मिलते ही आपने गांधीजी से इसकी चर्चा की। गांधीजी ने राय दी—"राष्ट्र-हित के लिए इस पदवी का जितना उपयोग हो सके करना चाहिए और जब यह उसमें बाधक बने तो उसका त्याग कर देना चाहिए।" सेठजी ने गांधीजी के इन शब्दों का अक्षरशः पालन

किया। जब महात्माजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो आपने यह खिताब सरकार को लौटा दिया।

कलकत्ता कांग्रेस के साथ ही सेठजी ने राजनीति में प्रवेश किया। इस समय वे स्वदेशी वस्त्र पहिनने लग गये थे और अनेक सम्माननीय नेताओं के साथ उनका घनिष्ठ परिचय हो गया था। विश्व-कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, सर जे. सी. बोस और दादाभाई नौरोजी इनमे प्रमुख थे । इन्हीं महापुरुषों के संसर्ग ने उन्हें राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित किया। महात्माजी का प्रभाव तो उनपर पूरी तरह पड़ ही चुका था। अब देश सेवा की धुन भी सवार हो गई। अतः जब १९२० में नागपुर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वे स्वागताध्यक्ष चुने गये। कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन बड़ी शान शौकत के साथ हुआ। इसके बाद सन् १९२१ में असहयोग की दुँदुभी बजी। सेठजी पूरी तरह असहयोगी बन गये और बड़े उत्साह से काम करने लगे। इसी समय आपने रायबहादुरी का खिताब लौटा दिया। इन्हीं दिनों आपने महात्माजी से कह कर सन्त विनोबाजी को वर्धा बुलाया और वर्धा में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना करवाई। जब गांधीजी ने तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए एक करोड़ रुपये की अपील निकाली तो आपने ही सबसे पहले १ लाख रुपये दिये। इसी समय असहयोग में भाग लेने वाले वकील बेरिस्टरों की मदद के लिए भी आपने एक लाख रुपये दिये। इसके बाद तो आप गांधीजी के अभिन्न अंग बन गये। आपने गांधीजी के द्वारा उठाए हुए प्रत्येक कार्य को अपनाया और उसमें पूरी तरह जुटते रहे। आपकी मृत्यु के बाद स्वयं गांधीजी ने कहा था:—"देश-सेवा की ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं थी जिसमें जमनालालजी का हाथ नहीं था।" जब गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन प्रारम्भ किया तो आपने अपना लक्ष्मीनारायण मन्दिर हरिजनों के लिए

खोल दिया । इसी प्रकार खादी, ग्रामोद्योग, राष्ट्र-भाषा प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, गो-सेवा, स्त्री-शिक्षा आदि सभी कार्यों में वे जुटते रहे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिए उन्हें जबरदस्त विरोध सहना पड़ा था।

सन् १९२३ में नागपूर में राष्ट्रीय झण्डे का अपमान हुआ। जमनालालजी इसे कैसे सहन करते? उनके नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारंभ हुआ जिसमें हजारों लोग जेल गये। जमनालालजी भी गिरफ्तार किये गये। उनको डेढ़ वर्ष की सजा और ३५००) रुपये जुर्माना हुआ। सेठजी ने जेल की मुसीबतों को प्रसन्नता पूर्वक सहन किया। जुर्माना वसूल करने के लिए उनकी मोटर जप्त करली गई। लेकिन जब उसे नीलाम किया तो कोई खरीददार नहीं मिला। कुछ दिनों तक खरीददार की प्रतीक्षा की गई लेकिन उसे किसी ने नहीं खरीदा। अतः सरकार ने उसे सी. पी. से दूर काठियावाड़ भेज कर नीलाम करवाने का इरादा किया और उसे वहाँ भेज भी दिया। इस पर उस समय के 'सौराष्ट्र' नामक अखबार ने लिखा था कि—"मध्यप्रान्त में तो सरकार को कोई देश-द्रोही नहीं मिला अतः देश-द्रोही की तलाश में मोटर काठियावाड़ लाई गई है।" जनता में उस समय सेठजी के प्रति कितनी श्रद्धा थी यह बात इस घटना से स्पष्ट हो जाती है। अन्त में सेठजी की तपस्या का परिणाम भी अच्छा ही निकला। सरकार को झुकना पड़ा और राष्ट्रीय झण्डे का गौरव बढ़कर रहा। इस विजय के बाद जेल से छूटने पर जनता ने उनका जिस उत्साह और श्रद्धा के साथ शानदार जुलूस निकाला और स्वागत किया वह उस समय के इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी।

अब तो उन्होंने अपना सारा जीवन कांग्रेस और गांधीजी के अर्पण कर दिया। सन् १९२० से लेकर मृत्यु के समय तक वे

कांग्रेस के कोषाध्यक्ष और कार्य-समिति के सदस्य रहे। उन्होंने सन् १९३०-३२ और ४० के आन्दोलनों में भाग लिया और कई बार जेल गये। नमक सत्याग्रह के समय तो उनकी पत्नी जानकी-देवी और पुत्र कमलनयन बजाज भी गिरफ्तार हुए थे। मध्यप्रान्त के राजनैतिक जागरण में उनका जबरदस्त हाथ था। वे मध्य-प्रान्त के राष्ट्रीय जीवन के जनक थे। उन्हीं के कारण महात्माजी ने सेवाग्राम में आकर रहना प्रारंभ किया और सेवाग्राम हिन्दुस्तान की राजनैतिक हलचलों का सबसे बड़ा केन्द्र बना। उनके बाद भी जबतक गांधीजी वहाँ रहे सेवाग्राम को भारत-व्यापी राष्ट्रीय हलचलों का केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। अखिल भारतीय चर्खा-संघ, गांधी-सेवा-संघ, भारतीय ग्रामोद्योग-संघ, महिला आश्रम, गो-सेवा-कार्यालय, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, बुनियादी तालीमी-संघ, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, और सेठजी की अन्तिम कृति गो-सेवा-संघ उनके अनन्य उत्सर्ग और पुण्य प्रेरणा के ही प्रतीक हैं। सेठ जमनालालजी इन सभी संस्थाओं के प्राण, प्रतिष्ठापक और प्रेरक थे।

अपनी राष्ट्र-सेवा के कारण वे सन् १९२० से अपनी मृत्यु के समय तक कांग्रेस के कोषाध्यक्ष बने रहे। कांग्रेस के सारे रचनात्मक कार्यों के वे प्राण और पोषक थे। राष्ट्र-सेवा के कार्य में उन्होंने २५ लाख से ज्यादा रुपये दान किये। उनके घर देश-भक्तों का मेला लगा रहता था। उनका घर मानों सभी देशभक्तों का घर था। सभी उनके यहाँ ठहरते और वे सबका बड़ा आदर और आतिथ्य सत्कार करते थे। बड़े छोटे सभी कार्य-कर्त्ता उनके स्नेह के समान अधिकारी रहते थे। गांधीजी के आने के बाद तो उनका घर मानों इलाहाबाद का आनन्द-भवन ही बन गया था। कांग्रेस कार्य-समिति की बैठकें उन्हीं के निवास-स्थान पर हुआ करती थीं। सेवाग्राम से सारी राष्ट्रीय हलचल

का सूत्र संचालन होने लगा था। इतना ही नहीं सारी दुनिया गांधीजी से प्रेरणा प्राप्त करने के लिए सेवाग्राम पर दृष्टि लगाये रहती थी। यह सब जमनालालजी की तपस्या और सेवा का फल था। सेठजी अपने समय में प्रथम कोटि के नेता थे। सन् १९३४ में वे कांग्रेस के स्थानापन्न अध्यक्ष भी बनाये गये थे।

सेठजी राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य भक्त और उपासक थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो। सन् १९२० में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर वे इन्दौर गये। महात्माजी इसके अध्यक्ष थे। सेठजी ने इसी समय दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए ५० हजार रुपये का दान दिया। उनके इस दान से दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का बड़ा भारी काम हुआ। उन्हीं के आग्रह से 'हिन्दी नव जीवन' प्रकाशित हुआ। 'कर्मवीर' को तो वे बार-बार सहायता देते रहे। 'राजस्थान केसरी', 'हिन्दी-केसरी', 'त्याग भूमि' और 'अखण्ड भारत' आदि हिन्दी के अनेक पत्रों की उन्होंने तरह तरह से सहायता की थी। बम्बई का हिन्दी ग्रन्थागार तो आपका ही था और प्रसिद्ध राष्ट्रीय ग्रन्थागार सस्ता साहित्य मण्डल के तो आप ही संस्थापक थे। हिन्दी की इन्हीं सेवाओं से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आपको मद्रास अधिवेशन का अध्यक्ष चुनकर सम्मानित किया। सम्मेलन के सभापति बनकर आपने हिन्दी सेवा के कार्य को भी बड़े उत्साह के साथ किया।

जमनालालजी की कार्यक्षमता और कर्मण्यता निस्सीम थी। वे जिधर अपनी शक्ति लगाते उधर तन्मय हो जाते थे। अधूरेपन से उन्हें चिढ़ थी। वे राजस्थानी थे अतः वीरता उनके स्वभाव का अंग थी। उनका डील डौल भी बहादुरों जैसा था। अक्सर रेल यात्रा में अंग्रेज बहादुरों से मुकाबला हो जाता। उनकी उद्दण्डता सहन करना अपने और अपने साथियों के स्वाभिमान

के विरुद्ध होता अतः वे उनकी उद्दण्डता के सामने नहीं झुकते। इस प्रकार के कई मौके उन्हें जीवन में आये थे। सेठजी जयपुर राज्य के निवासी थे। उनका जन्म सीकर ठिकाने के काशीकावास नामक स्थान में हुआ था। अतः वे देशी राज्यों की दयनीय स्थिति को कैसे भुला सकते थे। उस समय देशी राज्य सामन्त-शाही और अंग्रेजी दुर्गुणों के जबरदस्त शिकार थे। प्रजा उनके अत्याचारों की चक्की में पिस रही थी। जब देशी राज्यों में भी राजनैतिक जागृति की लहर फैली तो सन् १९३१ में वहाँ भी प्रजामण्डल की स्थापना हुई। सन् १९३८ तक प्रजामण्डल ने वहाँ गहरी नींव पकड़ ली। इस वर्ष प्रजामण्डल के सभापति सेठजी ही चुने गये थे। अखिल भारतीय हलचलों और रचनात्मक कामों के साथ साथ वे जयपुर की राजनीति में भी दिलचस्पी ले रहे थे।

इसी बीच सीकर के रावराजा और जयपुर महाराजा के बीच तनातनी हो गई। परिस्थिति इतनी बिगड़ी की गोलियाँ चलने की नौबत आ गई। रावराजा के साथ जमनालालजी की घनिष्टता थी। अतः वे बीच में पड़े और सीकर तथा जयपुर के बीच समझौता हो गया। लेकिन यह समझौता जयपुर के अंग्रेज मन्त्री को अच्छा नहीं लगा। उसने समझौते का पालन नहीं किया। सेठजी को इससे बड़ी चोट लगी। उनके शब्दों में समझौते का पालन न करना "अव्वल दर्जे का विश्वासघात" था। लेकिन अंग्रेज दीवान को इसकी क्या चिन्ता थी? उसकी नजर में तो प्रजा का पक्ष सुनाने वाले बागी थे। जमनालालजी भी बागियों की श्रेणी में गिने जाने लगे और उन्हें जयपुर राज्य में न घुसने का पुरस्कार दे दिया गया। सीकर समझौते का पालन न होने की चोट तो वे बरदाश्त कर ही नहीं पाये थे कि प्रवेश-निषेध की यह दूसरी चोट की गई। अब तो हद हो गई। लेकिन जमनालालजी

ने आवेश में कोई काम करना ठीक नहीं समझा। उन्होंने जयपुर के अंग्रेज दीवान से प्रेमपूर्वक पत्र व्यवहार करना शुरू किया। समझौते का प्रयत्न शुरू हुआ। उन्होंने दीवान को विश्वास दिलाया कि उनकी नियत शुद्ध है। वे जयपुर में कोई राजनैतिक उपद्रव नहीं करना चाहते हैं। वे तो रचनात्मक कामों में रुचि रखते हैं और इसीलिए जयपुर आना चाहते हैं। उनके इस सेवा-कार्य से राज्य का बोझ हलका ही होगा। लेकिन इस सब बातों का दीवान पर कोई असर नहीं हुआ। समझौते का कोई रास्ता नहीं रहा। अतः मजबूर होकर उन्होंने इस निषेध-आज्ञा को भंग करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दीवान को अपने निश्चय की सूचना दे दी।

जमनालालजी ने जयपुर की सीमा में प्रवेश किया। उन्हें पकड़कर बाहर छोड़ दिया गया। जमनालालजी ने फिर दुबारा प्रवेश किया और इस बार फिर उन्हें राज्य से बाहर छोड़ दिया गया। राज्य को भरोसा हो गया कि मामला इस तरह सुलझ नहीं सकता। उसने आखिर जमनालालजी को गिरफ्तार कर लिया और जयपुर से ९० मील दूर एक निर्जन स्थान में ले जाकर कैद कर दिया। इस घटना से लोगों में उत्साह उमड़ पड़ा। सत्याग्रह प्रारंभ हो गया और दूसरे लोग भी जेल जाने लगे। लगभग ५०० लोग जेल गये लेकिन गांधीजी ने आदेश दिया—"मैं तो अकेले जमनालाल को भेजकर ही सन्तोष कर लेता पर कुछ लोग और भी जेल चले गये तो मैंने उसपर कुछ आपत्ति नहीं की। लेकिन अब अधिक त्याग की आवश्यकता नहीं है। अतः आप लोग पुनः जोरों से रचनात्मक कामों में लग जाइये।" इस आदेश से सत्याग्रह स्थगित हो गया।

इस प्रकार सत्याग्रह शान्त हुआ पर वह निरर्थक नहीं गया। ६ महीने तक जेल में रखकर सरकार ने उन्हें छोड़ा। सरकार ने उस अंग्रेज दीवान को बिदा किया और दूसरे दीवान को उसके

स्थान पर नियुक्त किया। सरकार और प्रजामण्डल के बीच एक काम चलाऊ समझौता हुआ। जमनालालजी पर से प्रवेश-निषेध की आज्ञा उठा ली गई। इस प्रकार सेठजी का जयपुर सत्याग्रह सफल हुआ। इसके बाद जयपुर नरेश और सेठजी के बीच घनिष्टता बढ़ने लगी। महाराजा उनके शुद्ध हृदय की कद्र करने लगे।

जब जमनालालजी जेल में थे तो बीमार हो गये। डाक्टरों ने इलाज किया लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। उन्होंने राय दी कि सेठजी को योरोप जाकर इलाज करवाना चाहिए। जमनालालजी ने जवाब दिया—"मैं तो यहीं पर जन्मा हूँ और यहीं मरना चाहता हूँ। योरोप की चिकित्सा गरीबों के लिए सुसाध्य नहीं है। फिर मैं उसका लाभ कैसे उठा सकता हूँ? चिकित्सा के लिए बाहर जाने की अपेक्षा मुझे यहीं मरना अधिक पसन्द है।" उनकी इस दृढ़ता का जयपुर के अधिकारियों पर अच्छा असर पड़ा था। उन्होंने उनको मुक्त करने में ही अपना कल्याण समझा। सेठजी के इस सत्याग्रह से प्रजा के अधिकारों की रक्षा हुई और जयपुर नरेश पर सत्यता प्रकट हो गई। वे उनके प्रेम और त्याग से काफी प्रभावित हुए।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय सेठजी भी जेल गये और अस्वस्थता के कारण जब छूटे तो गांधीजी ने उन्हें गो-सेवा का कार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी। सेठजी ने गो-सेवा-संघ की स्थापना की और सब कुछ त्याग कर इसी पवित्र कार्य में जुट गये। उनकी इच्छा थी कि इस कार्य को देशव्यापी बनाया जाय। उनके प्रयत्न से सारे देश का ध्यान इस ओर आकर्षित भी हो गया था। लेकिन दुर्भाग्य से ११ फरवरी सन् १९४२ को वे इस असार संसार को छोड़कर उस अनन्त शक्ति में विलीन हो गये। उनकी

मृत्यु पर आचार्य विनोबाने कहा—"सेठ जमनालालजी ने अपने जीवन को इतना महान् और व्यापक बना लिया था कि यह शरीर उनके लिए छोटा प्रतीत होने लगा था।"

सेठ जमनालालजी राष्ट्र की महान् विभूति थे। राष्ट्र के लिए उन्होंने जो सेवाएँ की वे स्वर्णाक्षरों में लिखी जायँगीं। जिस समय देशभक्ति विद्रोह कही जाती थी, समाज रुढ़ी और अज्ञान से ग्रस्त था और सुधार के रास्ते पर चलने वालों के मार्ग में सरकार ही नहीं समाज और कुटुम्ब के लोग भी बाधक बनते थे, उस समय जमनालालजी ने देश के पीड़ित और शोपित लोगों की पुकार सुनी और सारे विरोधों तथा बाधा-बन्धनों के बावजूद अपने मार्ग पर बढ़ते चले गये। ये धनी तो थे ही। व्यक्तियों के भी जबरदस्त पारखी थे। देश-सेवा के कार्य के लिए उन्होंने अच्छे से अच्छे लोगों को पहिचाना और वे उनको आगे लाये। उन्होंने उनको महत्वपूर्ण काम सौंपे। ऐसे लोगों के बलपर ही रचनात्मक कार्य प्रगति करते गये।

सेठजी ने जीवन भर राष्ट्र और समाज की सेवा की। देश भक्ति उनके लिए मोक्ष का साधन थी। मान सम्मान या अधिकार लालसा तो उन्हें छू नहीं गई थी। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि निस्वार्थ भाव से जन-सेवा करते रहने से ही शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अगर मुझे कोई यह कहे कि इस तरह देश-सेवा करनेवालों को शत जन्म में नहीं, कई जन्मों के बाद मोक्ष प्राप्त होगी तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं होगी। एक प्रकार से आनन्द ही होगा। पवित्रता के साथ देश-सेवा करते करते कई जन्म भी हो जावें तो क्या चिन्ता?"

उन्होंने जीवन भर राष्ट्र और समाज की सेवा की। देश की

अनेक संस्थाओं और आन्दोलनों का पोषण किया। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी को ५१ हजार, गुरुकुल कांगड़ी को ३० हजार, जे. सी. बोस साइंस इन्स्टीट्यूट कलकत्ता को ३५ हजार, गांधी-सेवा-संघ को २ लाख ६० हजार, सत्याग्रह आश्रम वर्धा को ७५ हजार, मारवाड़ी अग्रवाल सभा को ६१ हजार, सत्याग्रह आश्रम साबरमती को ६५ हजार, गुजरात विद्यापीठ को २१ हजार, मारवाड़ी शिक्षा मण्डल को ८० हजार, तिलक स्वराज्य फण्ड को २ लाख, मुसलमान छात्रों को छात्रवृत्ति के लिए २१ हजार और अनेक संस्थाओं को इसी प्रकार की पुष्कल सहायता प्रदान की। जमनालालजी के निधन से राष्ट्र का बहुत बड़ा नुक्सान हुआ। गांधीजी ने उनके निधन पर कहा था—"मेरे हाथ कट गये हैं। जिसका द्वारपाल चला गया हो वह उसके लिए क्या कह सकता है ?" एक और स्थान पर उन्होंने जमनालालजी के लिए लिखा—"सेठ जमनालालजी को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब जब मैंने धनवानों के लिए यह लिखा कि वे लोक-कल्याण के दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जाय तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होंने जितने भी घर बनाये वे उनके घर नहीं रहे धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा में वे अपनी राय दृढ़ता पूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पुख्ता हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अन्तिम कार्य सर्व श्रेष्ठ रहा।

"......देश के पशु धन का कार्य उन्होंने अपने लिए चुना था और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वे इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नहीं। उनकी उदारता में जाति, धर्म या वर्ण की संकुचितता को कोई

स्थान नहीं था। वे एक ऐसी साधना में लगे हुए थे जो काम-काजी व्यक्ति के लिए विरल है। विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वे सदा ही अपने को तस्कर विचारों से बचाने की कोशिश करते रहते थे। उनके अवसान से वसुन्धरा का एक रत्न कम हो गया। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर से वीर सेवक खोया है।"

सेठजी श्रेयार्थी थे। उनके जीवन का विकास वटवृक्ष की भाँति हुआ। राई के बराबर बीज से वे विशाल वटवृक्ष बन गये। इतने विशाल कि उनके नीचे हजारों लाखों बटोहियों ने विश्राम लिया। उनका जन्म एक छोटेसे ग्राम में एक गरीब वैश्य के घर हुआ लेकिन मृत्यु गांधीजी जैसे विश्वव्यापी महापुरुष की गोद में हुई। वे वैश्यर्षि से राजर्षि हुए और राजर्षि से ब्रह्मर्षि के मार्ग पर दूर तक चले गये थे।